Digitized by eGangotri

वसन्त राग

ताराशंकर वन्द्योपाध्याय

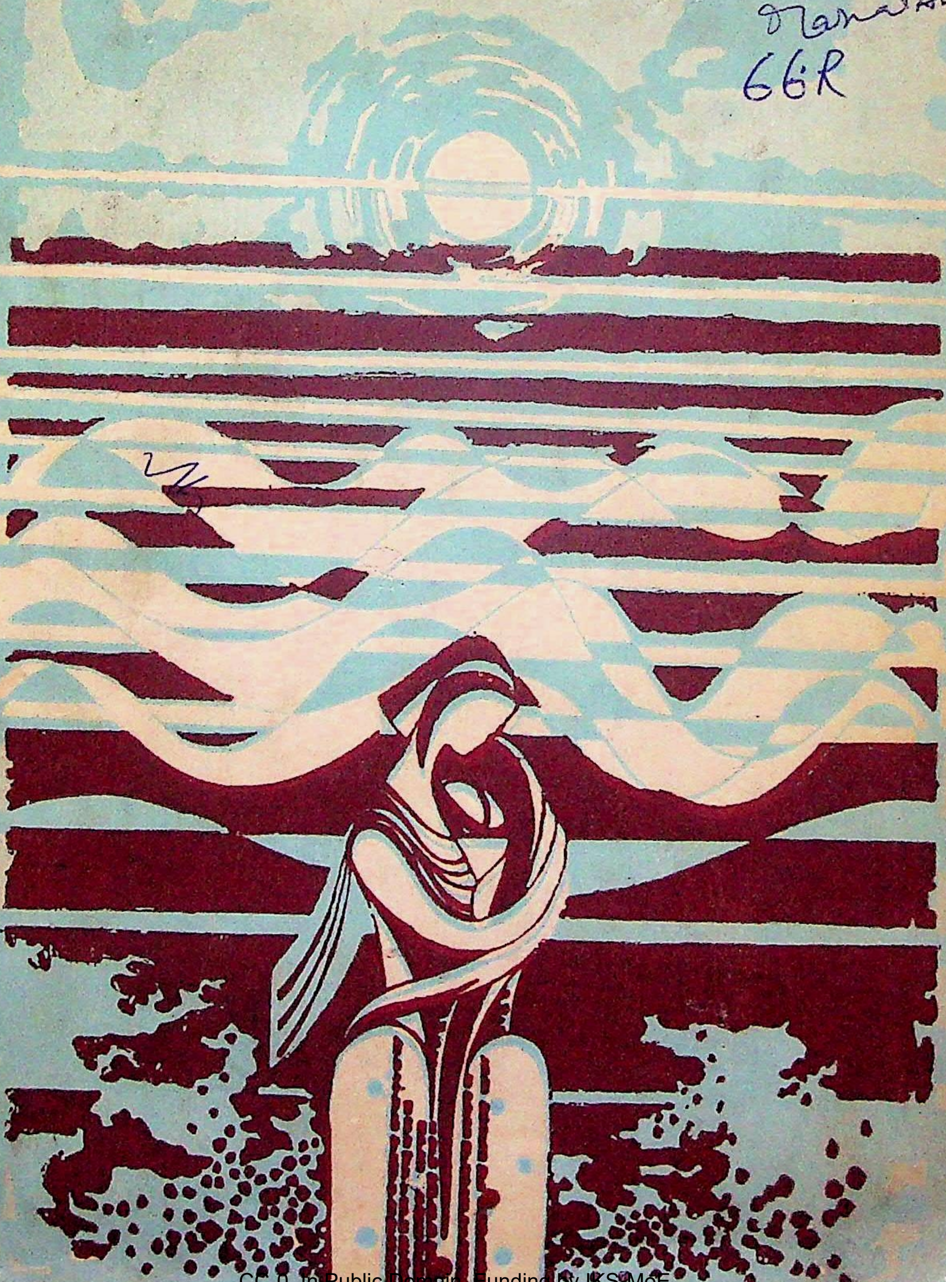

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वसन्त राग

स्कैन्ड/ Scanned

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वसन्त राग

ताराशंकर वन्द्योपाध्याय

अनुवाद :

कुसुम बाँठिया

SPS
891.433 T 17 V
30548

••स्कैन्ड/Scanned••

राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

Acc. No 30548
Cost Rs. 4.00
Date 9.2.68

Pratap Singh
Library
Srinagar

H83
T17A

सर्वाधिकार : शरद देवड़ा : अपरा प्रकाशन, कलकत्ता

प्रथम संस्करण

दिसम्बर १९६७

प्रकाशक :

राजपाल एण्ड सन्ज

कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मुद्रक :

अपरा प्रिन्टर्स

४१ ए, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता-१

आवरण-चित्र :

वीरेश्वर बनर्जी

मूल्य : ४ रुपये

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जीवन में वसन्त राग केवल
एक बार आता है, फिर केवल
उसकी स्मृति रह जाती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वसन्त
रा
ग
०

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भारतवर्ष के दक्षिण-पूर्वी तट पर पंच-पाण्डवों के पाँच रथों तथा विशालकाय प्रस्तर गज-प्रतिमा से सज्जित तीर्थ महाबलिपुरम तथा मद्रास के पास का ही एक स्थान। समय—ईस्वी सन् १८०३। मद्रास सिर्फ कहने भर को शहर है; वास्तव में है केवल कुछ ग्रामों का समूह मात्र। इसके दक्षिण-पूर्व में, समुद्र-तट से लगा हुआ ही, तपोवन-सा एक आश्रम है—सुन्दर, सुडौल। क्या कहा जाये इसे—मकान? नहीं। तो फिर कुटीर? ना, वह भी नहीं। कुटीर से कहीं अधिक सम्पन्न दिखाई देता है, और मकान से आकार-आयतन सभी में बहुत छोटा है। चार प्रस्तर स्तम्भों पर पत्थर की ही छत से छाया हुआ, छः हाथ गुणे बारह हाथ क्षेत्रफल का एक बरामदा है। इससे घिरा हुआ इसी क्षेत्रफल का कक्ष है, जिसे दो भागों में विभाजित कर लिया गया है—एक छोटा, एक बड़ा। सामने घनी वृक्षावली से परिवेष्ठित कुछ एक कट्ठा भूमि में एक सुन्दर-सा उद्यान है। कुछ दूर पर नारियल और ताड़ वृक्षों की दीर्घ पंक्ति है, जिसके आगे ही समुद्र की बेला-भूमि है। घन कृष्णाभ-नील सागर तरंगें श्वेत फेन का मुकुट धारण किये, कल्लोल करती हुई आती हैं, और तट से टकरा-टकराकर लौट जाती हैं। लहरों पर धूप झिलमिला रही है। अविराम कल्लोल ध्वनि से वातावरण मुखरित है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

बरामदे और कक्ष में सज्जा के उपकरण स्वल्प किन्तु सुन्दर तथा स्वच्छ हैं। छोटे कक्ष से कोई दस हाथ दूर ही एक कुटिया है—माटी की कुटी, ताड़-पत्रों से छाई हुई। यह भी वैसी ही सुडौल तथा स्वच्छ है। इसके सामने ही दो हृष्ट-पुष्ट धवलांगी गौएँ पागुर कर रही हैं।

आश्रम ही है यह। निर्जन वातावरण में, इस मनोरम, स्वच्छ, स्वल्पायतन घर को आश्रम नहीं तो और क्या कहा जाये? पर आज यह स्थान निर्जन नहीं है। बरामदे तथा बाहर उद्यान में अपार भीड़ है। उत्तेजित, किन्तु दवा-दवा कोलाहल किसी विराट छत्ते के आस-पास उत्तेजना-चंचल मधुमक्खियों के गुञ्जन-सा लग रहा है। सभी मुखर हैं—सभी दबे-दबे स्वर में कुछ-न-कुछ कह रहे हैं। स्वर दबा है, किन्तु उसकी उत्तेजना उत्तप्त वायु के स्पर्श-सी स्पष्ट है। पर बातें क्या, एक शब्द भी समझना कठिन है। इतने लोगों की एक साथ की हुई बातें आपस में मिल-जुलकर अस्पष्ट हो गई हैं, ऊपर से निकटवर्त्ती समुद्र की कल्लोल-ध्वनि इन्हें और अधिक दुर्बोध्य बनाये दे रही है। बस, लग रहा है, स्वरों के इस गुञ्जन पर एक हाहाकार-सा आरोपित है—दवे-दवे कंठ-स्वरों पर भी, और समुद्र की एकरस ध्वनि पर भी।

जनता के पीछे की ओर, आश्रम के प्रवेश-पथ की बाँयी दिशा में, जहाँ दो गायें बँधी हैं—वहाँ विषण्णता से आच्छन्न, म्लान मुख लिये शूद्र-कन्या लल्ला खड़ी है। लग रहा है मानों प्रखर ताप के क्लेश से मुरझाई हुई लता हो। धूप में मुरझाये हुए पत्तों की तरह उसके अंग-प्रत्यंग पर क्लेश के चिह्न हैं। स्वयं निर्वाक्, वह सुनने की चेष्टा कर रही है—कौन क्या कह रहा है!

आनेवालों की संख्या कम नहीं है। ब्राह्मण भी आये हैं, शूद्र भी—पर वे सभी प्रतिष्ठित, सम्मानित नागरिक हैं। हाँ, किसी की प्रतिष्ठा अधिक है, किसी की कम। अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति स्वाभाविक रूप से आगे खड़े हैं। लल्ला अकेली खड़ी है—सब के पीछे। सिर्फ वही मौन है—केवल सुन रही है सब की बातें।

और भी एक व्यक्ति मौन है। अर्द्धशायित अवस्था में चुपचाप पड़े हैं—दक्षिण के विख्यात संगीतज्ञ, सुकंठ गायक, वीणाकार रंगनाथन—वैष्णव संगीताचार्य रंगनाथन। वे भी मौन धारण किये, केवल औरों की बातें सुन रहे हैं। उनके ललाट के घाव पर कसकर पट्टी बँधी है; आँखों पर, चेहरे पर कुछ सूजन है। वे भी मुर्झाये-से हैं।

वे आहत हैं, इसीलिए यहाँ इतना जन-समागम है। महागुणी आचार्य रंगनाथन स्वर के जादूगर हैं। वंशी-सा मधुर उनका कंठ-स्वर है। यही नहीं,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वे स्वयं गीत-रचना करते हैं और स्वयं ही उन्हें स्वरों में बाँधकर वीणा के संग गाते हुए घूमते हैं। वे अपने नये गीत बड़े-बड़े मन्दिरों के प्रांगण में जाकर पहले देवताओं को सुना आते हैं, उसके बाद कहीं राजाओं के, धनिकों के निमंत्रण ग्रहण करते हैं। उनके किसी नये गीत की सूचना मिलते ही मंदिरों के पुरोहित उन्हें निमंत्रण भिजवाते हैं। वे निमंत्रण-पत्र को सिर से लगाकर कहते हैं, 'शिरोधार्य—मैं समय पर उपस्थित हो जाऊँगा।' मंदिर के प्रांगण में समारोह की तैयारी होने लगती है। दीपाधार आलोकित हो उठते हैं। सुगंधित धूप-शलाकाएँ जलाई जाती हैं। चारों ओर से सहस्र-सहस्र श्रोता एकत्रित हो जाते हैं। नियमानुसार शूद्र तथा अछूत दूर ही खड़े रहकर सुनते हैं। वीणा की प्रथम झंकार ही श्रोताओं को मानों जादू से बाँध लेती है। वीणा मंत्रपूत नहीं है, न झंकार में ही कोई जादू है, पर जिन्होंने पहले कभी उनका गायन सुना है, उनके हृदय में पूर्व-स्मृति जाग उठती है; इस नये गीत के प्रथम स्वरों का स्पर्श पाते ही उसी पुराने जादू का प्रभाव उन पर फिर से संचरित होने लगता है। फिर ये आलाप आरम्भ करते हैं। वीणा के स्वरों के साथ मिलकर इनका कण्ठ-स्वर सचमुच ही एक इन्द्रजाल की-सी सृष्टि करता है। स्वर इतना मधुर है, पर साथ ही, कितना बलिष्ठ भी, मानो शहनाई बज रही हो! फिर गीत आरम्भ होता है। गीत भी रंगनाथन की अपनी रचना है। उसमें भी एक नये ही भाव, एक नूतन भावना का प्रदर्शन है।

सर्वप्रथम ये अपनी कुशल अँगुलियों से वीणा के तारों को जगाते हैं—झम्! संगत करनेवाले भी मृदंग पर थाप देकर स्वर मिला देते हैं। फिर ये गा उठते हैं—'इस अनादि सृष्टि के आरम्भ में, निस्तरंग शब्द में, प्रथम ध्वनि का जन्म हुआ—नटराज के नूपुरों की झंकार से। विश्व की समस्त ध्वनियाँ मूलतः संगीत ही हैं। प्रलय-ताण्डव के भीम-भयंकर निनाद से लेकर व्रज की वंशी-ध्वनि, युद्ध-क्षेत्र के आर्त्तनाद तथा हुँकार से लेकर कुसुम-कुञ्ज में प्रणयी-युगल का मृदु गुंजन, आकाश के मेघ-गर्जन के वज्रनाद से लेकर कोकिल का कुहूरव—सभी की आत्मा में संगीत के स्वर झंकृत हैं। सभी का जन्म नटराज के नूपुर से ही हुआ है। हे नटराज, इसी में से प्रसाद-स्वरूप स्वर तथा संगीत के ये कुछ कण चुन लाया हूँ। इन्हें मैं तुम्हारे ही चरणों में अर्पित करता हूँ नटनाथ, तुम्हारे ही चरणों में।'

यह उनके हर गीत की, बल्कि सम्पूर्ण संगीत-साधना की ही भूमिका है। चैतन्य के आविर्भाव के पश्चात से बंगाल में ऐसी भूमिका को गौरचन्द्रिका कहा जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में इसका नाम वन्दना है। महाभारत में भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

व्यासदेव ने आरम्भ में ही कहा है—

> 'नारायणं नमस्कृत्य नरंचैव नरोत्तमम्
> देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयो मुदीरयेत् ।'

इस दृष्टि से रंगनाथन महाभारत के अनुरागी तथा अनुसरणकारी हैं ।

इसके बाद वास्तविक गीत आरम्भ होता है । वे पुराणों की कथाओं पर ही गीत रचते और गाते हैं—इन्हें कथा-गीत कहना ही उचित होगा । पर कथा-गीतों या गीति-कथाओं से इनमें अन्तर यह है, कि ये सफल गीत हैं । रंगनाथन स्वयं ही गीत के मध्य से सूत्रधार की भाँति कथा के सूत्र को आगे बढ़ाते चलते हैं । कथा से फिर गीतों पर उतर आते हैं । जितनी देर गीत चलता रहता है, श्रोता मन्त्रमुग्ध, स्वप्नाच्छन्न-से बैठे रहते हैं । कारो-मण्डल बेला-भूमि से टकराती लहरों की भाँति उनके हृदयों में अविराम भाव-तरंगें उच्छ्वसित होती रहती हैं । स्वयं वे लोग ही यह स्पष्ट अनुभव करते हैं । सागर-तटवर्ती मनुष्य समुद्र को बहुत चाहते हैं—वे समुद्र-शंख के अलंकार पहनते हैं, उन्हीं से न जाने कितनी कलाकृतियों की रचना करते हैं ; तट-भूमि पर खड़े नारियल के वृक्ष और फल उनकी जीवन-सम्पद् हैं ; दुःख-सुख दोनों में वे सागर की बेला-भूमि का आश्रय लेते हैं, समुद्र के कल्लोल में अपने हृदय की प्रतिध्वनि सुनते हैं ; समुद्री पवन उन्हें थपकियाँ देकर सुलाता है, समुद्री तूफान उनके घर-द्वार उड़ाकर विसर्जित कर देता है ; समुद्र की नील-कज्जल आभा उनके शरीर को लावण्य से, सुषमा से मण्डित करती है ; समुद्र ही उनका जीवनाधार है, उनका रत्नाकर । समुद्र में ही वे अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखने के अभ्यस्त हैं, भले वह भोर का समुद्र हो या दोपहरी का, संध्या का हो या रात्रि का, उच्छ्वसित हो या शान्त । अपने भावोच्छ्वसित हृदय की उपमा भी उन्हें समुद्र में ही मिलती है । रंगनाथन का गायन सुनते समय उन्हें अपना हृदय निशाकालीन सागर-सा लगता है—केवल तरंगों पर तरंगें उठ-गिर रही हैं । चिन्ता की नौकाओं का कहीं चिह्न भी नहीं है । फिर गायन समाप्त होता है । वीणा एक ओर रख देते हैं रंगनाथन । हाथ जोड़कर कहते हैं, 'त्रुटियाँ, विच्युतियाँ सब क्षमा करना, प्रभु ! आप सब भी भूल-चूक क्षमा करें । आप श्रोता हैं—मेरे देवता ।'

तब इन्द्रजाल टूटता है । समवेत स्वरों में घोष उठता है, 'जय रंगनाथन !'

रंगनाथन हाथ ऊँचा करते हैं—'ना !'

श्रोता विस्मित होकर रुक जाते हैं ।

रंगनाथन कहते हैं, 'ना । कहिये—जय विश्वरंगपति रंगनाथन—नटराज शिव की जय !'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यही हैं रंगनाथन––लोकप्रिय, सुन्दर रंगनाथन––मधुर प्रकृति संगीत-साधक रंगनाथन !

वही गुणी गीतकार रंगनाथन कल मद्रास शहर में एक निमन्त्रण पर गीत सुनाने गये थे। किरातार्जुनीय उपाख्यान गीतों में बाँधकर सुनाया था। लौटते समय अज्ञात आततायियों के एक दल ने उन पर आक्रमण करके मस्तक पर आघात किया था और रात्रि के अन्धकार में विलीन हो गये थे। रंगनाथन के संगी किसी प्रकार उन्हें उठाकर यहाँ तक लाये थे।

एक काष्ठासन पर बिछे बिछौने पर वे मसनद का सहारा लिये अर्धशायित-सी अवस्था में बैठे हैं। हाथ के पास ही वीणा है और एक हाथ वीणा के तारों पर अलस विश्राम की मुद्रा में पड़ा हुआ है। ललाट का घाव स्वच्छ वस्त्र-खण्ड से बँधा है। रक्त की एक शीर्ण रेखा का चिह्न दिखायी दे रहा है। स्राव अभी पूर्ण रूप से रुका नहीं है। सम्पूर्ण मुख-मण्डल पर एक विषण्ण वेदना की छाया है। यही उदास विषण्णता दृष्टि में भी है। वह मानो वातायन के पार, आकाश की नीलिमा में सांत्वना ढूँढ़ने का प्रयास कर रही है। उनकी शय्या के सामने भूमि पर बिछे आसन पर कुछ विशिष्ट व्यक्ति बैठे हैं। उन्हीं के बीच यहाँ के राज-प्रतिनिधि भी हैं। औरों में, स्थानीय विशिष्ट व्यवसायी, विशिष्ट चिकित्सक आदि हैं। ब्राह्मण पण्डित-गण भी हैं––पास ही एक अलग आसन पर।

मृदु स्वर में वार्त्तालाप चल रहा है। वार्त्तालाप क्या, एक ही बात को सब भिन्न-भिन्न रूपों में कह रहे हैं, 'यह घोर अराजकता है—भीषण अन्याय—बर्बरता की उच्चतम सीमा !'

ब्राह्मण भी यही बात कह रहे हैं, पर उनकी कथन-शैली अत्यन्त कठोर है। वे कह रहे हैं, 'यह पाप है—महापाप ! सब विधर्मी राजशक्ति की उदासीनता का परिणाम है। पर देवता इसे कभी क्षमा नहीं करेंगे।'

राज-प्रतिनिधि श्रीनिवासन अपने प्रश्न के उत्तर की प्रत्याशा में रंगनाथन की ही ओर अभिमुख थे, पर रंगनाथन उसी उदास दृष्टि से आकाश को निहारते, निर्वाक् बैठे थे। ब्राह्मणों की बातें कानों में पड़ते ही भौंहें कुंचित करके श्रीनिवासन ने फिर प्रश्न किया, 'कहिये ना आचार्य, आतताइयों में से किसी को आप पहचान पाये थे ?'

दीर्घ निश्वास के साथ रंगनाथन ने सिर हिला दिया, 'ना।'

'आज पूर्णिमा है, कल त्रयोदशी थी। आकाश भी निरभ्र था। ज्योत्स्ना के स्पष्ट आलोक में भी आप किसी को पहचान नहीं पाये ? आश्चर्य !'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पण्डित चिदाम्बरम अब तक मौन बैठे थे। अब बोले, 'आप राज-प्रतिनिधि हैं श्रीनिवासन ; ब्राह्मण-प्रकृति को नहीं समझते। रंगनाथन ब्राह्मण भी हैं, गायक भी। सम्भवतः कल ज्योत्स्ना के आलोक में भी, भय के कारण इनके नेत्रों के आगे अंधकार छा गया होगा। भय से इन्होंने नेत्र मूँद लिये होंगे।'

बात में व्यंग्य की रणकार स्पष्ट थी।

अब एक खिन्न-सी हँसी के साथ रंगनाथन बोले, 'आचार्य चिदाम्बरम, चिन्मय होने से अम्बर का रूप भले ही आवृत्त न हो, किन्तु मृत्तिकाजात कापसि के वस्त्रों से मानव स्वरूप सहज ही आवृत्त किया जा सकता है। उन्होंने यह सावधानी रखी थी। और मैं भी कुछ अन्यमनस्क था। संगी कुछ पीछे रह गये थे, इसीलिये ठीक से पहचानना सम्भव नहीं हुआ।'

राज-प्रतिनिधि श्रीनिवासन ने कहा, 'उन्होंने आपसे कुछ कहा भी तो था ! क्या कहा था ?'

'कहा था—यह विकृत व्याख्या कहाँ से मिली तुम्हें ?'

चिदाम्बरम बोले, 'उनका वाक्य-विन्यास—उच्चारण—'

बीच में ही बाधा देकर रंगनाथन बोल उठे, 'वे ब्राह्मण नहीं थे, आचार्य। अवश्य ही इस प्रदेश में मूर्ख, ग्रामीण ब्राह्मणों का अभाव नहीं है। उच्चारण आदि से ठीक अनुमान करना कठिन है। पर वे ब्राह्मण नहीं थे।'

चिदाम्बरम बोले, 'सुनकर सन्तुष्ट हुआ, रंगनाथन। अपने गीतों में तुमने पुराणों की जो व्याख्या की है, उससे आघात ब्राह्मणों को ही पहुँचा है। तुम्हारा प्रेम, सहानुभूति, सब उन कृष्णांगों के साथ ही है। ब्राह्मणों में भी मूर्ख हैं अवश्य, पर तुम्हारे इस निश्चय से मैं प्रभावित हुआ हूँ—इसलिये नहीं कि भय या प्रीतिवश तुमने ब्राह्मणों पर सन्देह नहीं किया, बल्कि इसलिये कि तुमने सच्चे ब्राह्मण की प्रकृति पाई है।'

श्रीनिवासन बोले, 'आप क्या सत्य ही किसी पर सन्देह नहीं करते ? कण्ठ-स्वर, आकार-आयतन तो वस्त्र के आवरण में नहीं छिपते !'

कुछ देर मानो सोच-विचार करके ही रंगनाथन बोले, 'ना।'

दृष्टि उनकी वातायन के बाहर ही अटकी थी। बाहर गोशाला के पास के खूँटे को थामे शूद्र-कन्या लल्ला खड़ी है, विषण्ण, मुरझाई लता-सी। वेदनाच्छन्न मुख पर नयन छलछला रहे हैं। वे उसे पहचानते हैं। यहाँ से कुछ ही दूरी पर इन लोगों की बस्ती है। इसका कण्ठ बड़ा ही मधुर है। अभी कुछ दिन पूर्व तक चक्षुहीना माँ का हाथ थामे गा-गाकर भिक्षा माँगती थी। रंगनाथन के पास नहीं आती थी। भय लगता था—अधर्म का भय, शासन का भय, और लज्जा का भय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ता था ही। उनके सामने कभी आती भी नहीं थी। दूर से इस सुकण्ठी किशोरी के गीतों की मधुर ध्वनि सुनकर कई बार इनका हृदय चाहा है, पास बुलाकर उसका गायन सुनें, पर सामाजिक अनुशासन और मर्यादा के संकोच ने बरबस रोक लिया है। और दो-चार दिन बीतते-न-बीतते सारी बात भूल भी गये हैं। एक मास पूर्व समुद्र-तट पर इससे एक संक्षिप्त-सी भेंट हुई थी, दो-चार बातें भी हुई थीं। उसके बाद उस ओर जाने का अवसर ही नहीं आया। कल रात भी गाते समय इसे देखा था। दूर, मन्दिर के चबूतरे से हटकर खड़ी जनता की प्रथम पंक्ति में थी यह—दीपदण्ड के सामने ही। इसके नेत्रों से बहती अश्रुधारा ने रंगनाथन का ध्यान आकर्षित किया था। आज भी यह आई है, इनके आहत होने की सूचना पाकर। नहीं तो आश्रम के भीतर प्रवेश करके गोशाला का खूँटा पकड़कर खड़े होने का साहस न करती। आज भी इसके नेत्रों में जल छलक रहा है।

श्रीनिवासन बोले, 'इस 'ना' का क्या अर्थ है, रंगनाथन ? मैंने जो कहा, कि मनुष्य का कण्ठ-स्वर, आकार-प्रकार आदि वस्त्रों में नहीं छिपता, क्या इसी का समर्थन किया है आपने ?'

रंगनाथन बोले, 'माननीय, मैंने आपके दोनों ही वाक्यों का उत्तर 'ना' में दिया है। आपका तर्क उचित है। छद्मवेश में पूरा आकार नहीं छिपता। इसके समर्थन में भी मैंने 'ना' कहा है। और आपने जो पूछा था, कि मुझे किसी पर सन्देह है या नहीं, इसके उत्तर में भी मैं यही कह रहा हूँ—ना, मुझे किसी पर भी सन्देह नहीं है।'

चिदाम्बरम बोले, 'उस अज्ञात आघातकारी की असाधुता, और रंगनाथन की साधुता में दोनों ध्रुवों का अन्तर है, श्रीनिवासन। कल पल भर के लिये दोनों ध्रुवों का आकस्मिक संयोग-संघर्ष हो गया था, पर साथ ही फिर दोनों दो छोरों पर लौट गये। इसीलिये साधुता के उच्चतम शिखर पर विराजमान रंगनाथन ने उन निकृष्ट, असाधु व्यक्तियों को देखकर भी पहचाना नहीं, सुनकर सुना नहीं, जानकर भी नहीं जाना। इस विषय में और अधिक विचार-विमर्श निरर्थक है।'

रंगनाथन बोले, 'आचार्य चिदाम्बरम, आपको प्रणाम है। आपका अनुमान अभ्रान्त है। मैं केवल एक ही बात का प्रतिवाद करता हूँ, कि मैं साधुता के उच्चतम शिखर पर पहुँच गया हूँ। आचार्य, साधुता की चरम सीमा पाने के लिये जिस पाण्डित्य की आवश्यकता होती है, वह मुझमें नहीं है। मुझे लगता है, उस बिन्दु पर आप खड़े हैं और जो तथ्य मुझे सन्देह नहीं करने दे रहा है, उसे नहीं देख पा रहे हैं। समझ भी नहीं पा रहे हैं। आचार्य, आघात मुझे सच ही लगा है, वेदना भी हुई है, दुःख भी। यह रक्तपात ही इसका साक्षी है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जिन्होंने मुझे मारा, वे ब्राह्मण नहीं हैं, यह भी सत्य है। पर आक्रमणकारी जो भी हों, उन्होंने मुझे मारा क्यों? मैंने तो उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचाई। मेरी तो किसी से कोई शत्रुता नहीं है।'

'तुम उदार—उदार ही क्यों, उदारतम व्यक्ति हो। तुम्हारा विश्वास है कि शबर, चाण्डाल आदि भी ब्रह्मविद् हो सकते हैं!'

'मैंने यह उपाख्यान महाभारत से चुना है, आचार्य। स्वयं महर्षि वेदव्यास ने इस सत्य का प्रतिपादन किया है। मैंने तो केवल इतना ही किया है कि दो विभिन्न प्रसंगों को एक साथ जोड़ दिया है—किरातार्जुनीय उपाख्यान में भूमिका-स्वरूप धर्मव्याध का प्रसंग भी जोड़ दिया है।'

'पर उसकी व्याख्या तो तुम्हारी अपनी ही है—'वैकुण्ठ में जिनका निवास है, वही कृष्णवर्ण चर्म के अन्तराल में भी वास करते हैं। वैकुण्ठ में जिनका निवास है, वही शबर पल्ली में पतितों के मध्य भी वास करते हैं। जो भवानी-पति कैलाशवासी हैं, वे ही इन अछूतों के मध्य भी रहते हैं। उनके कृष्णवर्ण से तुम्हें यदि घृणा होती हो, उनके निवास-स्थान की वीभत्स मलिनता, या कटु गन्ध के कारण यदि उनके निकट जाने में तुम्हें द्विधा बोध हो, तो तुम प्रभु को कभी भी नहीं पहचान पाओगे। ब्राह्मण-तनय, तुम ब्रह्माभिलाषी हो। क्रोध, घृणा और अहंकार के कारण तुम अपनी शिक्षा की अवधि में उन्हें नहीं पा सके। मैं नारी हूँ, और अपने धर्म पर अचल हूँ। मेरे पति मेरे आराध्य ही नहीं, प्रियतम भी हैं। उनकी सेवा मेरा धर्म ही नहीं, परम धर्म है। इसी धर्म के एकनिष्ठ पालन से मुझे जो आनन्द मिलता है, उसमें और ब्रह्मानन्द में कोई अन्तर नहीं है। इस धर्म का पालन करने के कारण तुम मुझ पर क्रुद्ध हुए, परन्तु इस क्रोध से मेरी बिन्दु मात्र भी क्षति न होगी। सुतरां, तुम्हें परम सत्य, परम तत्त्व का ज्ञान व्याध-पल्ली में धर्माराधन करते धर्मव्याध से ही प्राप्त होगा। घृणा मत करना; गन्ध से व्याकुल होकर, नासिका कुंचितकर द्वार पर ही मत रुक जाना; भीतर प्रवेश करना। तुम्हें पता है, तपस्या-रत अर्जुन को भवानीपति महारुद्र ने किरात वेश में ही दर्शन दिया था? अर्जुन ने उन्हें किरात मानकर अवज्ञा की थी, घृणा की थी, किन्तु किरातरूपी भगवान ने उसकी शक्ति का अभिमान चूर-चूरकर दिया था। हिमगिरि के कांचनजंघा की स्वर्णच्छटा से प्रतिभासित स्वर्णकान्ति महादेव जब किरात वेश धारणकर नीलगिरि पर आये, तब उन्होंने सुनील समुद्र का अवगाहन करके निविड़ नीलकान्ति रूप धारण किया।' यही तो तुम्हारी व्याख्या है, रंगनाथन!'

'यह व्याख्या क्या भ्रान्त या विकृत है, आचार्य?'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'यह बात तुमने क्रिस्तान पादरियों से भी पूछी है, रंगनाथन ?'

श्रीनिवासन बोले, 'इसमें आपने क्रिस्तान पादरियों की बात क्यों उठाई, आचार्य चिदाम्बरम ?'

'राज-प्रतिनिधि होकर भी क्या आपको इसका कारण विदित नहीं है, श्रीनिवासन ? मद्रास के चारों ओर समस्त तेलंगाना में, उधर त्रिवांकुर कोचिन तक, उन्होंने गिरजों की स्थापना कर ली है। मद्रास में भी उनकी प्रतिष्ठा है। पानीपत के युद्ध के साथ ही महाराष्ट्र की शक्ति क्षीण हो गई थी। जितनी अवशिष्ट थी, नाना फड़नवीस की मृत्यु के साथ वह भी नष्ट हुई। तीन वर्ष बीतते-न-बीतते पेशवा ने अँग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली है। महीशूर के टीपू सुलतान का स्वर्गवास हो चुका है। टीपू सुल्तान हिन्दू धर्म के प्रतिपालक नहीं थे, किन्तु पादरियों पर भी उन्होंने कठोर शासन रखा था। निजाम भी अक्षम ही हैं। दक्षिण में इस्लाम तीन सौ वर्षों के आधिपत्य के उपरान्त भी सनातन धर्म की कोई क्षति नहीं कर पाया है, किन्तु क्रिस्तान धर्म के प्रसार का परिणाम देखिये। इनके धर्म-प्रसार का कौशल किसी से गुप्त नहीं है। फिर इस प्रकार पथ के सारे कण्टक दूर हो जाने के कारण इनका धर्म-प्रचार और भी सशक्त हो उठा है। इन्होंने अस्पृश्य वर्ग में अपनी स्थिति के प्रति विद्रोह जमाकर उनका विस्तृत रूप से धर्म-परिवर्त्तन किया है। अतः कारण आप भी जानते हैं, राज-प्रतिनिधि। स्वीकार न करें तो और बात है।'

श्रीनिवासन बोले, 'ये सब बातें राजनैतिक हैं, आचार्य। मैं अस्वीकार नहीं करता कि मुझे इन आलोचनाओं का अधिकार नहीं है। पर इतना मैं वचन देता हूँ, कि अपराधी का सन्धान पाने पर उसे दण्ड अवश्य दूँगा।'

चिदाम्बरम बोले, 'श्रीनिवासन, प्रत्येक कार्य का कुछ कारण होता है, पर कारण भी तो स्वयंभू नहीं होता। वह भी किसी पूर्ववर्त्ती कार्य या कारण से उद्भूत होता है। यह आघात अस्पृश्य लोगों ने किया है, और उनको उकसाया है ईसाई धर्म-प्रचारकों ने। रंगनाथन ने अपने गीत में जो व्याख्या दी है, इन पादरियों ने उसे विकृत करके अपने अनुयाइयों को समझाया है। यह मुझे निश्चित रूप से पता है। अपराधियों का सन्धान मिलने पर भी तुम उन्हें दण्ड नहीं दे सकोगे, श्रीनिवासन।'

श्रीनिवासन बोले, 'मैं प्रतिज्ञा किये जाता हूँ, मैं उनका पता लगाऊँगा और उन्हें दण्ड दूँगा। हाँ, रंगनाथन को इतना कहना होगा—मैंने इन्हें पहचान लिया है—इनका आकार-आयतन, कण्ठ-स्वर सब वही है—बस। सबके सामने मैं यह शपथ लेता हूँ, भले ही इसके लिये मुझे बाद में राज-प्रतिनिधित्व का भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

त्याग करना पड़े।'

सब समवेत स्वरों में कह उठे, 'साधु, साधु!'

उस ओर प्रतिष्ठित व्यवसायी गोपालन बैठे थे। वे बोले, 'तीन दिन के अन्दर मैं आपको आततायी का नाम या सन्धान दे दूँगा, श्रीनिवासन। मैं व्यवसायी हूँ। मेरी पण्यशालाओं में अनेक कर्मचारी हैं, अनेक लोगों का समागम है। सन्धान पाने में मुझे विलम्ब न होगा। हाँ, आचार्य चिदाम्बरम ने जो कहा है, वह सत्य है—मैं जानता हूँ। आचार्य रंगनाथन ने यह गीत सर्वप्रथम गाया था कांजीवरम में। वहाँ भी उनकी व्याख्या उच्चवर्गीय, ज्ञानी-गुणी समाज के कई सदस्यों को अप्रीतिकर लगी थी। व्यथित होकर उन्होंने कहा भी था कि यह व्याख्या सबके लिये उचित नहीं है। फिर भी उन्होंने साधुवाद दिया था। किन्तु शबर-समाज इस व्याख्या से क्षुब्ध हुआ है। आप उनके प्रमुख व्यवसायी जोसेफ को पहचानते हैं? वह ईसाई बन गया है, आंग्ल भाषा सीख ली है, फिर भी यह भूल नहीं पाया है कि मूलतः वह शबर ही है। उसने भी सम्भवतः कांजीवरम में यह गीत सुना था। कुछ दिन पूर्व वह मेरे पास नारियल तथा जटाओं की रस्सियाँ लेकर आया था। हमारे बीच उस समय रंगनाथन के गीत की ही चर्चा चल रही थी। हम सभी एकमत होकर गीत की प्रशंसा कर रहे थे, कह रहे थे—कैसी अपूर्व, कितनी हृदयस्पर्शी व्याख्या है! क्षोभ से जोसेफ की आकृति कठोर हो आई। वह बोल उठा था, 'असत्य, निकृष्ट, नीच, कुत्सित व्याख्या है यह, श्रेष्ठी गोपालन। इसका उद्देश्य यही है कि किसी कौशल से हमारी जाति को हेय सिद्ध किया जाये। हमारी बस्तियों में जाकर देखिये, कहाँ है गंदगी? कहाँ है दुर्गन्ध? रंगनाथन को ईश्वर की दया नहीं, दण्ड मिलेगा। मैं कहे देता हूँ—देखियेगा।' फिर मुट्ठियाँ भींचकर बोला था, 'हम लोग क्रिस्तान होकर भी जन्म से शबर हैं।' इन बातों पर विचार कीजिये और देखिये, दुर्घटना किस प्रान्त में हुई है? और फिर आघातकारी ब्राह्मण नहीं हैं—'

कक्ष के बाहर बरामदे से कोई बोल उठा, 'ब्राह्मण या शबर को छोड़कर किसी और का यह काम नहीं हो सकता, गोपालन सेठ।'

'कौन? अली नासिर साहब?—'

'हाँ, मैं ही हूँ।'

'आप भी आये हैं? अरे, बाहर क्यों बैठे हैं?'

'भीतर जगह काफी कम है, मैं बाहर ही ठीक हूँ। रंगनाथन मेरे प्रिय गायक हैं। मुसलमान होकर भी मैं इनके गीत सुनना पसन्द करता हूँ। विष्णुकांची में रंगनाथन ने जब यह गीत पहली बार गाया था, तब मैं भी व्यापार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

के सिलसिले में वहीं गया हुआ था। रात भी वहीं रहा था। तभी मैंने शिवकांची के संन्यासियों के एक दल को इस गीत पर बहस करते सुना था। वे बेहद नाराज थे, और कह रहे थे, वे लोग रंगनाथन को इसकी सजा देकर रहेंगे। वे नहीं चाहते कि वैष्णव धर्म के दरवाजे इस तरह सबके लिये खोल दिये जायें। रंगनाथन से इसीलिये वे लोग चिढ़ गये हैं।'

इस बात पर कक्ष के भीतर निस्तब्धता छा गई। शैव-सम्प्रदाय में भी ऐसे अर्द्धोन्मत्त भक्त हैं तो सही।

श्रीनिवासन ने चिदाम्बरम को सम्बोधित किया, 'आचार्य !'

चिदाम्बरम बोले, 'हाँ, सुना।' फिर कुछ पल मौन रहकर बोले, 'असम्भव नहीं है, श्रीनिवासन। हिन्दू-धर्म में विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर विरोध की अग्नि अखण्ड रूप से प्रज्ज्वलित रहती है। रंगनाथन ने धर्म-अग्नि को जो अर्घ्य अर्पित किया है, उससे विरोध की शिखा भी भड़क उठी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अस्तु, अब रंगनाथन को आकार-प्रकार, कण्ठ-स्वर आदि कठिन मार्गों से अनुमान लगाने की आवश्यकता नहीं है। देह की गन्ध से सहज और प्रामाणिक अनुमान लग सकता है। उनके शरीर से एक विशेष प्रकार की गन्ध निकलती है—वैष्णवों की देह से भी। रंगनाथन—'

श्रेष्ठी गोपालन बोले, 'इन अर्द्धोन्मत्त शैव गणों पर सन्देह करके, ईसाई पादरियों और जोसेफ इत्यादि को छोड़ देना अधिक निरापद भी होगा !'

श्रीनिवासन बोले, 'निरापद की बात बाद में देखी जायेगी, श्रेष्ठिवर ! पहले आचार्य रंगनाथन कुछ कहें।'

रंगनाथन बोले, 'गन्ध कैसी थी, यह भी मुझे स्मरण नहीं है, राज-प्रतिनिधि, पर यह भी नहीं कह सकता कि कोई गन्ध थी ही नहीं। और वे लोग सनातन-धर्मी मूर्ख दुर्जनों के दल के नहीं थे, यह भी कैसे कह दूँ, आचार्य चिदाम्बरम। मुझे क्षमा करें आप।'

चिदाम्बरम बोले, 'यह तुम्हारे औदार्य के उपयुक्त ही कथन है, रंगनाथन।'

इसी समय एक व्यक्ति ने शीघ्रता से कक्ष में प्रवेश किया और दीवार के सहारे-सहारे तीव्र गति से श्रेष्ठी गोपालन के पास जाकर उनके कान में कुछ कहा। गोपालन चौंक उठे, बोले, 'कहाँ ? किधर ?'

'वहाँ गोशाला के पास खूंटा पकड़े खड़ी है।' वातायन की ओर संकेत करते हुए उसने कहा, पर अगले ही क्षण वह भी विस्मित रह गया, 'अरे ! वहीं तो खड़ी थी अभी ! गई कहाँ ?'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सभी विस्मित होकर पूछने लगे, 'कौन ?—क्या ?'

'जोसेफ के ग्राम की एक कन्या है। लझा नाम की एक कन्या, जो गा-गाकर भिक्षा माँगती है ना ? वही। तब से वहीं गोशाला का खूँटा थामे खड़ी थी। आप लोगों की बातें सुनकर मैं भीतर यही कहने आया था—कि वह कहाँ चली गई ? आपकी बातों से मुझे सन्देह हो रहा था कि जोसेफ की गुप्तचरी है, अब पूर्ण विश्वास हो गया।'

राज-प्रतिनिधि श्रीनिवासन शीघ्रतापूर्वक उठकर बाहर गये और पुकारा, 'थिरुमल !'

कोतवाली का कर्मचारी सामने आकर ससम्भ्रम अभिवादन करके आदेश की प्रतीक्षा करने लगा।

'देखो थिरुमल, यहाँ का चप्पा-चप्पा छान मारो—यहाँ लझा नामक कोई शबर-कन्या—'

'वह तो अपनी अन्धी माँ को साथ लिये गीत गा-गाकर भिक्षा माँगा करती है। यहीं तो थी अभी, वहाँ गोशाला के पास।'

'खोजो, उसे तुरन्त खोज निकालो। किसी को आश्रम के बाहर भी भेजो—अभी, इसी समय।'

रंगनाथन अस्थिर हो उठे। बोले, 'आचार्य, राज-प्रतिनिधि, यह क्या कर रहे हैं आप लोग ? यहाँ से मैंने भी देखा था, एक उदास-सी शबर-बालिका गोशाला के पास खड़ी थी। पर अपराध क्या था उसका ?'

राज-प्रतिनिधि बोले, 'मेरे कर्तव्य में बाधा न दें, रंगनाथन ! आप सरल—'

आचार्य बोल उठे, 'सरल नहीं, निर्बोध !'

रंगनाथन को चुप रह जाना पड़ा।

थिरुमल चौकीदारों के साथ लझा की तलाश करने लगा। गोशाला के भीतर के मचान पर, बाहर वृक्षों की ओट में, वृक्षों की घनी शाखाओं-प्रशाखाओं पर भी दृष्टि फेरकर देखा, कहाँ गई वह ? एकत्रित जनता में से कई लोगों ने उनका साथ दिया। किधर ? कहाँ है ? आश्रम के बाहर भी ढूँढ़ा गया, चारों ओर की दृष्टि-सीमा छान मारी—किधर है ? कहाँ है वह ?

किसी व्यक्ति ने सुझाया, 'बेला-भूमि तो देखी ही नहीं !'

वहाँ भी सन्धानक दौड़ाया गया, पीछे-पीछे कुछ और व्यक्ति भी गये। पर सारा बालुका-तट निर्जन था। चारों ओर केवल शंख-सीपियाँ बिखरी थीं। दूर-दूर तक के प्रदेश के निर्बाध दर्शन होते थे। क्षितिज तक मानो सिकता का विस्तार हो। घन-नील समुद्र आ-आकर तट पर पछाड़ें खा रहा था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अनियंत्रित, धृष्ट पवन हाहाकार-सा वहन किये चल रहा था। कुछ लोगों ने तटवर्ती नारियल-वृक्षों के झुरमुट में भी खोजा, पर कहाँ ? वह तो कहीं भी नहीं है !

श्रीनिवासन बोले, 'मैं इसका प्रतिकार करके रहूँगा। अपराधी जो भी हो—उन्मादी शैव, या क्रिस्तान धर्म-प्रचारकों का उकसाया हुआ निर्बोध जोसेफ—उसे मैं दण्ड अवश्य दूँगा—सबके सामने देवता की शपथ लेता हूँ।'

आचार्य चिदाम्बरम बोले, 'श्रीनिवासन, देवता और धर्म इस संकल्प के पालन में तुम्हारे सहायक हों। हाँ, रंगनाथन !'

'आचार्य !'

'तुम्हें दृढ़ चित्त होना होगा।'

'मैं जो भी कहूँगा, सत्य कहूँगा, आचार्य। सत्य से बढ़कर दृढ़ और क्या होगा ?'

'हाँ, रंगनाथन, महाभारत में लिखा है—धर्मराज ने उच्च स्वर में 'अश्वत्थामा हतो' कहकर मन्द स्वर में 'इति गज' कहकर सत्य-पालन के नियम की रक्षा की थी, पर धर्म ने उन्हें क्षमा नहीं किया। नरक-दर्शन उन्हें करना ही पड़ा। यह स्मरण रखना। चलिये, श्रीनिवासन।'

श्रीनिवासन बोले, 'यहाँ दो रक्षकों को नियुक्त कर जाऊँ ?'

रंगनाथन हाथ जोड़कर बोले, 'क्षमा करें, राज्य-प्रतिनिधि। इससे मेरी मृत्यु ही अधिक श्रेयस्कर होगी।'

विस्मित श्रीनिवासन को अपनी ओर देखते पाकर रंगनाथन आगे बोले, 'इस तरह कितने दिन तक मेरी रक्षा करेंगे आप ? मैंने आपके असम्मान के उद्देश्य से यह बात नहीं कही थी। आप स्वयं विचार कर देखिये।'

श्रीनिवासन ने कोई उत्तर नहीं दिया। प्रहरियों को लेकर वे चले गये। श्रेष्ठी गोपालन और आचार्य चिदाम्बरम ने भी उनके साथ ही विदा ली। फिर क्रमशः आश्रम प्रायः जनशून्य हो चला।

रंगनाथन आश्रम में एक प्रकार से अकेले ही रहते हैं। उनका जीवन भी विचित्र रहा है। ब्राह्मण-सन्तान होने पर भी वे पण्डित या शास्त्र-विद् नहीं हैं। नितान्त बाल्यकाल में ही माता-पिता को खोकर अनाथ हो गये थे। एक वैष्णव साधु ने ही इनका पालन-पोषण किया। रंगनाथन का मधुर कण्ठ-स्वर तथा संगीत के प्रति इनका जन्मगत अनुराग तथा अधिकार देखकर ही वे इनकी ओर आकृष्ट हुए थे। उन्होंने ही इनको संगीत की शिक्षा दी और पुराणों की कथाएँ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सुना-सुनाकर पुराणों में भी पारंगत कर दिया था। फिर इन्हें भेजा था कर्णाटक संगीत के एक कर्णधार के पास। ये संगीतज्ञ उन वैष्णव साधु के भक्त थे। ये भी बालक के संगीतानुराग तथा सुकण्ठ पर तो मुग्ध हुए ही, उससे भी अधिक मुग्ध हुए उसके हृदय में ममता की तृष्णा को देखकर। ममता का भूखा बालक, पाने को ही नहीं, देने को भी आतुर था। क्रमशः इनमें संगीत-रचना की शक्ति स्फुरित हुई। अब ये यौवन में चरण रख चुके थे। संगीत-गुरु ने इन्हें विदा दी—वैष्णव गुरु के पास भेज दिया। इन्हें कह दिया, अब आगे अपना पथ ये स्वयं ही बना लेंगे। इन्हें आवश्यकता केवल जीवन के किसी आधार की होगी।

बात सत्य हो थी। एक गायन के समय को छोड़कर शेष सारे समय रंगनाथन एक निरविच्छिन्न उदासी में मग्न रहते। वैष्णव-गुरु एक दिन इस उदासी का कारण पूछ ही बैठे।

तरुण रंगनाथन ने उत्तर दिया, 'पता नहीं, प्रभु। सम्भवतः—'

'सम्भवतः ?'

'कह नहीं सकता, प्रभु। अपने-आपको घोर एकाकी अनुभव करता हूँ।'

'तुम गृहस्थ बनो, रंगनाथन। मैं अपने गृही शिष्यों से कहूँगा, तुम्हारे लिये कोई सुन्दरी सुशीला कन्या खोजें।'

हाथ जोड़कर रंगनाथन ने कहा, 'नहीं, प्रभु।'

'क्यों ?'

'गृहस्थ होने की क्षमता मुझमें नहीं है, मुझे भय लगता है।'

'भय ?'

'हाँ प्रभु, बड़ा भय लगता है। आप मेरे पालक हैं, गुरु हैं। आपके सामने झूठ नहीं बोलूँगा।'

एक दीर्घ मौन के बाद गुरु ने पूछा, 'तुम्हें कौन-सी वस्तु सबसे अधिक उल्लसित करती है, बोलो तो ? सोच-समझकर, भली-भाँति आत्म-निरीक्षण करके कहना। क्या कभी भी, किसी भी पल तुम्हें इस उदासी से मुक्ति नहीं मिलती ? क्या पल भर के लिये भी कभी तुम्हें सुख या आनन्द की अनुभूति नहीं होती ?'

कुछ क्षण सोच-विचार के पश्चात् रंगनाथन बोले, 'हाँ प्रभु, संगीत-गुरु के साथ मुझे कई बार बड़े-बड़े संगीत-समारोहों में गाने का भी अवसर मिला था। जब मेरे गायन पर मुग्ध-विभोर श्रोता मुझे साधुवाद देते थे, तब लगता था, मैं सत्य ही सुखी हूँ।'

'एकान्त में क्या कभी आनन्द का अनुभव नहीं होता ?'

30598

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'होता है प्रभु , पर वह स्थिति बड़ी विचित्र है। रोने से मुझे सुख मिलता है। जब कभी बैठे-बैठे मुझे ध्यान आ जाता है कि मेरा कोई नहीं, तब अपने-आप नयनों से जल झरने लगता है। और भी एक कारण से मुझे रोना आ जाता है—मनुष्यों का दुःख देखकर।'

गुरु का मुख उज्ज्वल हो उठा। बोले, 'यह मेरा अंतिम प्रश्न है। बोलो रंगनाथन, जब तुम पर कोई विपत्ति आती है, दुःख असह्य हो उठता है—तब किसको पुकारने को हृदय चाहता है ? किसकी याद आती है ? किसके पास दौड़ जाने को व्याकुल होते हो ?'

'कह नहीं सकता। हाँ, विपत्ति पड़ने पर पहले आपका ही स्मरण होता है ; लगता है, आपके पास आकर ही मुझे दुःख से छुटकारा मिल जायेगा। पर दुःख जब बहुत ही गम्भीर होता है, तब तो किसी की भी याद नहीं आती। लगता है, मैं निपट एकाकी हूँ, मेरा कोई नहीं है।'

कुछ दिन पश्चात् गुरु ने इन्हें बुलाकर कहा, 'रंगनाथन, इन कुछ दिनों में मैंने तुम्हारे ही विषय में चिन्तन किया है। तुम्हारे जीवन का आधेय अमृत है, पर इसे सँभालने के लिये स्वर्णपात्र तुम्हें नहीं मिलता। इसीलिये तुम इतने दुःखी हो। तुम्हें आनन्द अपने गायन की प्रशंसा से मिलता है। तो गायन ही तुम्हारा कर्म क्यों न हो ? तुम्हें प्रशंसा मिलेगी, प्रतिष्ठा भी। अपने सारे श्रेय यदि तुम प्रभु-चरणों के स्वर्णपात्र में संचित कर सको, तो इसी जीवन में तुम्हें मुक्ति प्राप्त होगी।'

वही साधना करते आ रहे हैं रंगनाथन। उनकी एकाकी जीवन-यात्रा की संगिनी उनकी वीणा है। उनके साथ संगत करनेवाले वादक भी हैं, पर वे आवश्यकता पड़ने पर ही आते हैं। शेष समय रंगनाथन अकेले ही रहते हैं—वैसे एकदम अकेले भी नहीं। वृद्ध परिचालक कुड्डमुनि भी साथ रहता है।

संगीत के बल पर इन्हें ख्याति मिली है। इनका गायन सुनने के लिये सहस्रों श्रोताओं का जमघट लग जाता है। उन सबकी मुग्ध दृष्टि देखकर इनका हृदय आनन्द से भर जाता है। गुरु की बातों का स्मरण होता है। नेत्र मूँदकर मन्दिर की ओर अभिमुख होकर कहते हैं—'तुम्हीं को सब अर्पित करता हूँ।' गायन समाप्त करके प्रसादी माला लेकर लौटते हैं। धनियों के घर से सम्मान के साथ-साथ यथेष्ट अर्थ-प्राप्ति भी होती है। पर घर लौटने के पथ में ही यह आनन्द घुलने लगता है। घर में प्रवेश करके वीणा रखने के साथ-ही-साथ वह पुरानी उदासी फिर घेर लेती है। अन्यमनस्कता से आक्रान्त अवस्था में ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उनकी मध्यमा अँगुली कभी वीणा के तारों पर मृदु आघात कर उठती है। उनके मन में भी मानो प्रतिध्वनि उठती है—मेरा कोई नहीं है। प्रभु की प्रतिमा का स्मरण करने की चेष्टा करते हैं, पर नयनों के सामने तैर उठती है—मुग्ध दर्शकों की प्रशंसा-भरी दृष्टि। कभी-कभी किसी दुःखी जन की भी याद आ जाती है—कोई भिक्षुक, कोई पीड़ित व्यक्ति। इन्हीं के मध्य नारी मुखाकृतियाँ भी हैं, पर किसी विशेष नारी की ही स्मृति हो, ऐसी बात नहीं है। इधर कुछ समय से इन शबरों का दुःख हृदय को मथ रहा है। कुछ दिन पूर्व ये महाबलिपुरम के समुद्र-तट के साथ-साथ उत्तर की ओर यात्रा कर रहे थे। हिमाचल के आँचल में छाये घने कुहासे तथा हिम की भाँति उदासी ने इन्हें आच्छन्न कर रखा था, इनके हृदय को मानो जमा डाला था। वेदना के इस असीम भार से व्याकुल होकर रंगनाथन एक दिन रात भर रोते रहे थे। अगली प्रातः तुषाराच्छन्न जीवन तथा निर्मल मानसाकाश लिये, महाभारत का पारायण करने बैठे थे। सावित्री की कथा ने आकर्षित किया था। इसका मुख्य कारण था, मद्रराज अश्वपति की महीयसी कन्या सावित्री का चरित्र। रंगनाथन जा रहे थे माल्यवान पर्वत स्थित पम्पासर का दर्शन करने, उसमें स्नान करने। इच्छा थी, वहीं बैठकर सावित्री के उपाख्यान को लेकर कथा-गीत की रचना करेंगे। वहीं तो वह महिमामयी भूमि है, जहाँ कृष्ण-चतुर्दशी के घन अन्धकार में, मृत सत्यवान का सिर गोद में लिये बैठी सावित्री ने अपने नेत्रों से, कृष्ण ज्योतिमण्डित मृत्यु देवता के दर्शन किये थे। रंगनाथन ने सोचा था, गहन वन में रात्रि व्यतीत करेंगे; वहीं वीणा की झंकार के साथ स्वर तथा शब्दों की गीति-माला गूँथेंगे। पर यह हुआ नहीं। यात्रा मध्य में ही स्थगित कर, उन्हें आश्रय मिला था एक शबर-पल्ली में। समुद्र में प्रबल झंझा उठी थी। देखते-देखते आकाश घन अन्धकार से आच्छादित हो आया और प्रचण्ड आँधी चलने लगी। वेलाभूमि की बालुका के तीव्र झपाटे आ रहे थे। ताड़, नारियल आदि वृक्षों के शीर्ष खण्डित हो गये। अन्य वृक्षों के पत्ते छिन्न-विछिन्न हुए उड़ रहे थे, शाखाएँ टूट-टूटकर गिर रही थीं, और कुछ वृक्ष तो समूल ही उखड़कर पास के अन्य वृक्षों पर जा गिरे थे। समुद्र की क्रुद्ध, पर्वताकार तरंगें वेला-भूमि को पार कर स्थल-भाग पर पछाड़ खा रही थीं। रंगनाथन समुद्र की ओर से पीठ फेरकर, आत्मरक्षा के लिये स्थल-प्रान्त के भीतरी भाग की ओर चलने की चेष्टा करने लगे। बड़े कष्ट के बाद एक शबर-पल्ली के दर्शन पाकर कुछ धैर्य बँधा था। दिन का प्रकाश कुछ अवशिष्ट था, नहीं तो सम्भवतः यह सन्धान भी न मिलता। निम्न, पर्वतीय अंचल था। छोटे-छोटे वृक्षों का घना वन था। उसीके बीच पगडण्डी पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

यथासाध्य द्रुत गति से चलते-चलते अचानक ठोकर खाकर संज्ञाहीन हो गिर पड़े थे। चेतना लौटने पर स्वयं को टोडा जातीय शबरों की बस्ती की एक छोटी-सी कुटी में पाया। आँधी थम चुकी थी। छोटी-सी, पन्द्रह-बीस घरों की बस्ती थी—तृण से छाई झोंपड़ियाँ। निवासी थे सरल, कृष्णकाय नर-नारी। वन ही इनका जीवन-सम्बल था। इनके दक्षिण-वासी बान्धवों को रंगनाथन ने देखा था। यहाँ उत्तर में इनके रूप में कुछ अन्तर आया है। स्त्रियाँ शरीर के ऊपरी भाग को ढकती हैं, पर कन्धा खुला रहता है। पुरुष नाम-मात्र के वस्त्र पहनते हैं—कमर से घुटनों तक—कई तो वह भी नहीं, केवल कौपीन से काम चलाते हैं। जब रंगनाथन के नेत्र खुले तब देखा, सिरहाने एक वृद्धा बैठी थी। उन्होंने तमिल में ही पूछा, 'तुम लोगों ने ही मुझे बचाया है ?'

प्रौढ़ा का मुख आनन्द से उज्ज्वल हो उठा। वह कुछ बोल नहीं सकी। रंगनाथन के स्वस्थ होने की खबर पाकर दल का मुखिया आया। उसने कहा, 'बचाया तुम्हें भगवान ने है। हमने तो तुम्हें राह में बेहोश पड़ा पाया था। तुम्हारे बचने की हमें आशा नहीं थी।'

मुखिया के पीछे ही दल बाँधकर बस्ती भर के लोग आ खड़े हुए थे। हर व्यक्ति की दृष्टि में आनन्द तथा ममता छलक रही थी। अचानक पीछे से एक तीक्ष्ण-क्रुद्ध चीत्कार सुनाई दिया। किसी नारी-कण्ठ का चीत्कार था, 'रक्त, रक्त—उसका रक्त ले! हमारा रक्त क्यों लिया ? ले—ले—छोड़ !—रास्ता छोड़ !'

मुखिया चकित होकर बोल उठा, 'अरे, अरे, उसे ले जाओ। यहाँ कैसे आ गई ?' फिर रंगनाथन के विस्मित मुख की ओर देखकर बोला, 'पागल है।'

सारी रात चीखती रही थी वह लड़की। आतंकित भयातुर चीख, मानो आतताइयों का एक दल उस पर आक्रमण करने आया हो।

मुखिया ने वीणा लाकर सामने रखी, 'यह तुम्हारे पास ही पड़ी हुई थी।'

'हाँ, मेरी ही वीणा है। टूट गई है, अब बजेगी नहीं। अक्षत होती तो मैं गीत सुनाता। तुम लोगों ने मेरे प्राण बचाये हैं।'

'गीत !' मुखिया के चेहरे पर आनन्द उद्भासित हो उठा, 'तुम गाते भी हो ?'

'हाँ।'

'हमें सुनाओगे ? हम लोगों को गाना सुनना बहुत अच्छा लगता है।'

'तुम लोग नहीं नाचते-गाते ?'

'नाचते-गाते थे। वो पगली लड़की ही सबसे सुन्दर नाचती थी। वह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मेरी ही पुत्री है, पर अब पागल हो गई है। हर समय चीखती रहती है। अभी भी देख लो, रात भर चिल्लायेगी। बीच-बीच में नींद आती है, पर अचानक नींद टूट जाती है और वह फिर चिल्लाने लगती है—'आये! आये! छोड़—छोड़ दे!' उस पर बड़ा जुल्म हुआ है। अगर मर ही जाती तो—'

रंगनाथन क्या उत्तर दें? क्या कहें? निर्वाक् बैठे रहे। कुछ क्षण बाद बोले, 'बिना वीणा के ही गाऊँ? सुनोगे तुम लोग?'

'गाओ, गाओ। वह भी सुनेगी।'

उन्होंने गाया था—छोटा-सा एक कथा-गीत। रामायण का प्रसंग था—गुहक चाण्डाल के साथ रामचन्द्र की मिताई। वह पगली भी शान्त बैठी सब सुन रही थी। सबके पीछे बैठी थी। अद्‌भुत सुन्दरी कन्या थी—नितान्त तरुणी—बीस वर्ष से भी कम आयु होगी।

गीत समाप्त होते ही वह हठात् पूछ बैठी, 'लोगों ने रामचन्द्र का घर नहीं जला दिया?'

मुखिया ने उद्विग्न होकर उसका हाथ पकड़ लिया, 'उन्नि, उन्नि—बोलो, सीता राम, सीता राम! ऐसी बात नहीं कहते। सीता राम!'

'हाँ, सीता राम, भगवान!'

'हाँ, भ-ग-वा-न!'

'भगवान दुःख नहीं देते, जबर्दस्ती जुल्म नहीं करते। आदमी—आदमी करता है।' फिर अचानक चीख उठी, 'मर जा, आदमी मर जा!'

रात को रंगनाथन ने पूछा, 'उन्नि ने ऐसा क्यों कहा?'

मुखिया ने सारा वृत्तान्त बताया। यह ग्राम उनका मूल वास-स्थान नहीं है। समुद्र-तट के निकट ही, शहर से कुछ ही दूर उनकी बस्ती थी। कोई पचास परिवार थे। अत्याचार उन पर होते ही थे। पर विगत दो वर्षों से मरहट्टा, निजाम, अँग्रेजों आदि का युद्ध चल रहा है। इसी युद्ध में उनका ग्राम चार बार जला दिया गया—दो बार जलाया मराठों ने, एक बार अँग्रेजों ने, एक बार निजाम ने। जिसके भी पथ में यह ग्राम आया, उसी ने अत्याचार किया। इस कन्या, उन्नि को वे लोग पकड़कर ले गये थे। तीन दिन बाद जब छोड़ा, तो वह विक्षिप्त हो चुकी थी। रात्रि होते ही चीखने लगती, 'नहीं—नहीं—नहीं! छोड़ दे! छोड़ दे! मार—मार डाल!' रात भर यही क्रम चलता। दिन में भी किसी भी अपरिचित को देखते ही भागकर छिप जाती है। यदि वह आगन्तुक यहीं ठहर जाता है, तो चिल्लाती है, 'रक्त ले, रक्त ले! उन्होंने हमारा रक्त क्यों लिया?' चार आक्रमणों में उन लोगों ने इनके ग्राम के बीस से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भी अधिक व्यक्तियों को कोंच-कोंचकर मारा है। वह भी इसने देखा है। तभी से वह ग्राम छोड़कर इन लोगों ने इस वन में आश्रय लिया है। अभी ठीक से घर भी नहीं बना पाये, किसी प्रकार झोंपड़ियाँ बना रखी हैं। अब भी सभी कहते हैं—'यहाँ भी नहीं, वन के और भी अन्दर चलो, जहाँ कोई भी हमारा पता न पा सके।'

रंगनाथन के नेत्र भर आये। रात भर वे सो न सके। माल्यवान-पम्पासर की यात्रा का विचार उन्होंने स्थगित कर दिया। अगली प्रातः उन लोगों से विदा लेकर वे मद्रास प्रान्त में अपने आश्रम में लौट आये।

मन में उन्हीं बातों का चक्र चल रहा था। ये सरल प्राणी हैं—दीन, वंचित, पदानत। क्यों? इनके ऊपर इतना अत्याचार क्यों? इतनी अवज्ञा क्यों? इतनी घृणा किसलिये? महाभारत की बात याद आई।

महाबलिपुरम में प्रस्तर-खण्ड पर खुदी हुई अर्जुन की तपस्या की कथा याद आई।* अर्जुन के तप से तुष्ट होकर स्वयं महारुद्र किरात वेश में अवतरित हुए थे। साथ ही पधारी थीं—किरातिनी के वेश में स्वयं पार्वती। इसी कथा के अवलम्बन पर गीत रचना करके वे सिद्ध करेंगे कि ये लोग महारुद्र के ही वंशधर हैं। ये अस्पृश्य नहीं है, विपुल शक्ति के अधिकारी हैं। फिर स्मरण हुआ था धर्मव्याध की कथा का—जिनके पास ब्राह्मण-कुमार कौशिक ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने गये थे। इस कथा का भी कुछ अंश जोड़ दिया था।

कौशिक को व्याध के पास जाने का निर्देश दिया था एक पतिता नारी ने। उसी ने कहा था, 'मन में घृणा लेकर मत जाना। स्मरण रहे, इन कृष्ण-वर्ण मनुष्यों के अन्तर-मन्दिर में भी उन्हीं प्रभु का निवास है, जो सर्वोच्च स्वर्ग—गोलोक—में निवास करते हैं।' यही थी उस कथा-गीति की भूमिका, और उपसंहार में भी कुछ विस्तार से यही लिखा था। लौटने के पथ में ही रचना आरम्भ हो गई थी। लौटकर इसे पूरा किया भावावेश में भरकर रोते हुए। इस रचना के निर्माण-काल में भी इन्हें एक दिन उसी शबर-कन्या लल्ला का दूरागत संगीत सुनाई दिया था। प्रभु का स्तव-गान करती हुई भिक्षा माँग रही थी। विचित्र कन्या है! सुना था, जोसेफ की भतीजी है—ज्येष्ठ सहोदर की पुत्री। यह व्यवसाय लल्ला के पिता का ही आरम्भ किया हुआ था। जोसेफ तब क्रिस्तान नहीं हुआ था, वैसे पादरियों के पास उसका यातायात कई दिनों से

---

* अब पता चला है कि यह चित्र भगीरथ की तपस्या का है। १९ वीं शताब्दी में इसे अर्जुन का ही चित्र माना जाता था। —लेखक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

चल रहा था। गिरजे से संलग्न उद्यान में वह काम करता था। परिवार से झगड़कर भाग आया था। फिर लक्षा के पिता की मृत्यु के बाद गाँव लौटकर उसने ज्येष्ठ भ्राता का व्यवसाय सँभाल लिया था। चार-पाँच वर्षों में ही उसने व्यवसाय को समृद्ध बना डाला था। अब सब कुछ उसी का था। इसी बीच वह स्वयं भी क्रिस्तान हो गया था और ग्राम के और भी अनेक लोगों को इसके लिये प्रलुब्ध किया था। मद्रास में कम्पनी की नौकरी का प्रलोभन भी बड़ा था। साथ ही और भी तो कितनी वस्तुएँ मिलती थीं—पोशाक, मर्यादा, सभी कुछ। हिन्दू-समाज के माननीय सदस्यों की—जिनके साथ एक पथ पर चलने का अधिकार नहीं था, जिनकी देह पर अपनी छाया तक पड़ने देना अक्षम्य अपराध था—उनकी उपेक्षा करने का, उन्हें अस्वीकार करने का अधिकार पाकर वे उल्लास से प्रमत्त हो उठे थे। मुक्ति भी मिली ही। ग्राम में पादरियों की पाठशाला खुल गई थी। ग्राम के बालक-बालिका शिक्षा पाने लगे थे। उन्हीं में लक्षा भी थी। माँ की आपत्ति के कारण उसने धर्म-परिवर्तन नहीं किया। नहीं तो—। ना, ना, वह नहीं। उसका गीत सुनकर ऐसा तो नहीं लगता। लड़की सुकण्ठी है, और उस टोडा तरुणी उन्नि से कहीं अधिक रूपवती। एक प्रकार की परिष्कृत शालीनता है इसमें—शिक्षा का संस्कार, नगर-वास का परिष्कार। यही किशोरी—क्या सत्य ही यहाँ गुप्तचरी बनकर आई थी? उसके नयनों में छलकता जो जल इन्होंने देखा था, वह क्या शान्त, निस्तरंग समुद्र पर विषण्णता का आभास आरोपित कर बैठने जैसी भूल थी?—कल्पना थी? स्वेच्छाकृत भ्रम था? जोसेफ से ये अपरिचित नहीं हैं। उसके साथियों से भी परिचित हैं। प्रायः ही तो वे इनका गायन सुनने के लिये आश्रम के सामने की बेला-भूमि पर आकर बैठ जाते हैं। दृष्टि मिलते ही प्रसन्न हास्य से खिल उठते हैं। उन लोगों के मुख और नेत्रों में मानो दीपक जल उठते हैं। अपने असीम स्नेह को वे अनेक प्रकार से व्यक्त करते हैं। आश्रम के बाँस के फाटक के पास कभी रख जाते हैं पुष्प-गुच्छ, कभी कच्चे, हरे नारियल, परिपुष्ट केले और ऋतु में आम्रफल भी। बाँस की नई डलिया में सब वस्तुएँ सजाकर, आकर पुकारते हैं, 'आचार्य, आचार्य!'

सुनते ही ये बाहर आकर बोलते हैं, 'आओ, मेरे यहाँ संकुचित होने का कोई कारण नहीं है। आओ।'

वे लोग स्मित हास्य के साथ अपनी डलिया भूमि पर रखकर बोलते हैं, 'हमारे वृक्ष के फल हैं, आपके लिये लाये हैं।'

ये उन वस्तुओं को उठाकर बोलते हैं, 'आज मेरे देवता परम तृप्ति से भोजन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

करगे, भद्र ।'

रंगनाथन उन लोगों को सदा 'भद्र' कहकर ही सम्बोधित करते हैं ।

हाँ, यह आदान-प्रदान अधिकतर क्रिस्तान शबरों के साथ ही होता है । क्रिस्तान भी इनके यहाँ आते हैं, जोसेफ भी आया है । एक बार नारिकेल रज्जु का सुन्दर-सा पाँवपोश बनाकर देने आया था । उसका कण्ठ-स्वर संकोचहीन होते हुए भी सहज नहीं था, मानो संकोच का वर्णन सायास हो, कुछ अस्वस्तिकर भी । उसने पुकारा था, 'संगीताचार्य हैं !'

'कौन ?'

'मैं, जोसेफ ।'

'आओ, आओ ।'

'तुम्हारे लिये पाँवपोश लाया हूँ । देखो, सुन्दर बना है ना ?'

'बहुत सुन्दर है, भद्र ।'

'मुझे भद्र क्यों कहते हो ? जोसेफ कहो ।'

'ठीक है, वही कहूँगा ।'

'हाँ, अब तो मैं एक क्रिस्तान जेण्ट ठहरा । जानते हो ना ?'

'हाँ ।'

'मैं तुम्हें संगीताचार्य रंगनाथन कहूँगा । बुरा तो नहीं मानोगे ?'

'ना, ना, बुरा क्यों मानूँगा ?'

'इसीलिये तो तुम्हारे लिये कुछ लाने का मन भी करता है । उन सब ब्राह्मण आचार्यों को मैं कुछ नहीं देता ।' कुछ देर बाद बोला, 'जानते हो संगीताचार्य, तुम्हारा गायन सुनने की इच्छा होती है, पर हम लोग तो प्रभु यीशु की पूजा करते हैं । इसीलिये भय लगता है कि प्रभु यीशु रुष्ट हो जायेंगे । पादरी बाबा नाराज होंगे, यह तो निश्चित है । नहीं तो एक दिन तुम्हें नियम से दक्षिणा देकर कथा-गान सुनता । तुम आते ?'

इन्हें कुछ सोचना पड़ गया था । जाने पर सम्भवतः उच्चवर्ण के समाज का, देव-मन्दिर का भी प्रवेश-द्वार रुद्ध हो जाता ।

जोसेफ बोला, 'मैं जानता हूँ आचार्य, तुम स्वयं तो आना चाहते हो, पर मेरी ही तरह तुम्हें भी इन पण्डित-पुरोहितों का, समाज-पतियों का ध्यान रोक लेता है । यही सोच रहे हो ना ?'

'हाँ जोसेफ, यही सोच रहा हूँ ।'

'जाने दो, आचार्य । दूर से ही सुनूँगा तुम्हारे गीत । पर तुम अपने गीतों में बहुत रुलाते हो ।' उसके काले चेहरे पर दो सुन्दर, सुगठित, शुभ्र, चमकती

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दंत-पंक्तियाँ खिल उठीं। बोला, 'हम लोग हँसना अधिक पसन्द करते हैं।'

वह उठकर चल दिया, पर फिर जाते-जाते लौटकर बोला, 'अच्छा, एक बात बतलाओगे ?'

'क्या ?'

'हम हँसना पसन्द करते हैं, तुम्हारा गाना सुनकर रुलाई आती है। फिर भी हम आ-आकर सुनते हैं। उस रोने में भी सुख मिलता है। क्यों ? बताओ तो !'

रंगनाथन हँसकर बोले, 'इसका उत्तर तो मैं भी नहीं जानता, जोसेफ।'

'मेरी भतीजी बहुत अच्छा गाती है, कण्ठ भी बहुत सुरीला है। सुनकर ही सीख लेती है। जब कभी मेरा मिजाज खराब होता है, उसे बुलाकर गाना सुनता हूँ। सुनकर मिजाज अपने-आप ठीक हो जाता है।'

'हाँ, दूर से मैंने भी उसका गायन सुना है। सुन्दर कण्ठ है।'

'उसे देखा है ? रूप भी उतना ही सुन्दर है। उसे मैंने हमारी क्रिस्तान पाठशाला में पढ़ना-लिखना सिखाया है। भाई के मरने पर भार मेरे ही ऊपर तो है। सोचा था, अच्छी शिक्षा देकर, क्रिस्तान बनाकर अच्छी जगह ब्याह दूँगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कितने ही छोकरे अँग्रेज कर्मचारी हैं। वे लोग यहीं की लड़कियों से ब्याह कर लेते हैं। लेकिन मेरे भाई तो थे जिद्दी और कुसंस्कारी। भाभी और भी ज्यादा थी। उसी ने लड़की को क्रिस्तान नहीं बनने दिया। मेरे घर से एक मुट्ठी चावल भी नहीं लेती थी वह क्रोध के मारे। भीख माँगकर खाती थी। मैं भी ऐसा नरम आदमी नहीं हूँ। मैं भी कभी उसे कुछ देता नहीं। और फिर कानून का भी तो भय है। जानते तो हो, उतनी-सी बात से ही यह मान लिया जाता कि हमारा परिवार एक है। हर चीज में उनका भी भाग है। लड़की का ब्याह होने पर जमाई हिस्से की माँग करता। माँ तो अंधी हो गई थी। लड़की का हाथ पकड़कर गाने गा-गाकर भीख माँगती फिरती थी। अब लड़की ने भी माँ का जिद्दीपन पाया है। माँ कहती थी, कभी भी क्रिस्तान नहीं बनने दूँगी। उसकी अपेक्षा इसे किसी मन्दिर में दे आऊँगी। बाहर झाड़ू देगी, भजन गायेगी, इसकी गति हो जायेगी।'

रंगनाथन अवाक् होकर सुन रहे थे। इसमें नया कुछ भी नहीं था, पहले भी सुन चुके हैं। वे वैष्णव हैं। जानते हैं, कितने ही अछूत भक्त सन्त हो गये हैं। पर ऐसी घटना नेत्रों के सामने हो रही है—फिर भी इन्हें पता नहीं चला—इसी पर विस्मय हो रहा है इन्हें।

Sri Pratap Singh Library Srinagar.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

जोसेफ आगे बोला, 'लड़की को नाचना भी आता है। वह चाहती है, ठीक से नाच और गाना सीखे। अच्छा आचार्य, उसे किसी कथाकलि नर्त्तकों के दल में नहीं दिया जा सकता? तुम इसकी कोई व्यवस्था नहीं कर सकते? सच मानो, वह बड़ी कुशल निकलेगी, बहुत नाम कमायेगी।'

ये बातें हुई थीं, पम्पा सरोवर जाने के पहले। पम्पासर में स्नान करने और सावित्री की कथा पर गीत-रचना की धुन में रंगनाथन को जोसेफ और लल्ला की बातें विस्मृत हो चली थीं। पर खण्डित यात्रा के मध्य से लौटते समय उन्नि के प्रसंग से बार-बार लल्ला की ही बात याद आ रही थी। उन्नि का स्मरण होते ही मानो उसके साथ ही लल्ला भी आ खड़ी होती। कभी सोचते, शायद लल्ला के भाग्य में भी ऐसी ही दुर्गति लिखी है। कई बार सोचा, जोसेफ को बुलाकर कहें, 'जोसेफ, लल्ला तुम्हारी भ्रातुष्पुत्री है। समय कैसा आया है, यह तो देख ही रहे हो। चारों ओर युद्ध का विस्तार हो रहा है। बड़े-बड़े राजा आँधी में नारियल-सुपारी के वृक्षों की भाँति गिर रहे हैं। इस अराजक काल में लल्ला को भिक्षाटन के लिये मत जाने दिया करो। उसका विवाह कर दो, घर बसा दो। पल्टन के सैनिक तो—देशी हिन्दू-मुसलमान और विदेशी फिरंगी—सब एक से ही हैं। इनके सामने हम सभी अवश हैं। और फिर मद्रास शहर दिनों-दिन विस्तृत होता जा रहा है। दूर-दूर के स्थानों से धनी व्यवसायी आ रहे हैं, दुष्ट-दुर्जन भी आ रहे हैं। ये भी बर्बर हैं। मनुष्य वैसे भी भूमि और नारी—इन दो प्रलोभनों में पड़कर पशु हो उठता है। लल्ला का विवाह कर दोगे, तो कुछ सीमा तक निरापद हो जायेगी, कुछ सुरक्षित होगी।'

इतना कहने का विचार किया था, पर फिर भूल गये। और कुछ समय से जोसेफ भी इधर नहीं आया था, न लल्ला का मधुर कण्ठ-स्वर ही सुनाई दिया था। ये स्वयं भी गीत-रचना में इतने तन्मय हो गये थे कि बाह्य जगत् से सारा सम्पर्क मानो टूट चुका था।

इसके बाद लल्ला को देखा था कांजीवरम में—जब वरदराज के मन्दिर में यह गान सर्वप्रथम देवता के सम्मुख गाया था। गोपुरम के बाहर, प्रवेश-पथ के पास ही अस्पृश्य श्रोताओं की प्रथम पंक्ति में ही वह खड़ी थी।

देखते ही इन्हें लगा था, कहीं यही तो लल्ला नहीं है! उसके हाथ में करताल थी, कन्धे पर भिक्षा की झोली। रंग कृष्ण नहीं, श्यामल था। सुन्दर श्रीयुक्त मुखमण्डल; तन्वी, दीर्घ देहयष्टि; घुटनों तक आता हुआ दरिद्रावर्ण कार्पास-वस्त्र का परिधान। छोटा-सा आँचल कंचुकी को ढकता हुआ किसी प्रकार कंधे को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पारकर पीठ पर पड़ा है। मस्तक पर घने, काले, रूखे केशों की राशि को एक रंगीन वस्त्र-खण्ड की सहायता से सुन्दर, सुडौल रूप से बाँध रखा है। उसमें लगा है—एक बड़ा-सा पुष्प-गुच्छ।

देखकर इनके अधरों पर स्मित खेल गया। भिखारिनी हुई तो क्या, जीवन में यौवन की लीला अमोघ है। तेलहीन, अविन्यस्त केशों को भी कुसुम-गुच्छ से सजा रखा है लक्ष्मा ने। उसके नयनों में मुग्ध सम्भ्रम था। रंगनाथन से दृष्टि मिलते ही सम्भ्रम के साथ-साथ श्रद्धा-भरे हास्य की एक शिखा-सी दीप्त हो उठी उन नेत्रों में। वह मानो कृतार्थ हो उठी। करताल लिये-लिये ही उसने दोनों हाथों को कृतांजलि में बाँध लिया था। उन हाथों में शंख के वलय थे, सुदीर्घ-सुडौल अँगुलियाँ—अनामिका में पीतल की अंगुरीय। पैरों में? पैरों में कोई आभूषण नहीं है? हाँ, है ना। रौप्य चरण-भूषा सजी है पाँवों में।

लौटते समय भी देखा था। गोपुरम के शीर्ष से झूलते बड़े दीपाधार का परिपूर्ण आलोक उसके मुख पर पड़ रहा था। शुभ्र अपांग रक्ताभ हो रहे थे। चक्षु-पल्लवों की घन-दीर्घ रोमावली भी सिक्त थी। लक्ष्मा गीत सुनकर रोयी थी।

उस रात्रि फिर लक्ष्मा के विषय में सोचकर चिन्तित हुए थे। जिस यौवन-धर्म ने उसे, पल भर के लिये अपने रिक्त भिक्षा-पात्र को विस्मृत कर, उस पुष्प-गुच्छ की ओर हाथ प्रसारित करने के लिये प्रेरित किया था, वही यौवन-धर्म मनुष्य में, धरती के संग अपने सम्बन्ध भुलाकर आकाशचारी बनने की कामना भी जगा देता है। यह मृत्तिका मानव का परमाश्रय होने पर भी इसमें कण्टक-पत्थर, कीट-पतंग, सरीसृप, खाई-खन्दक आदि का तो अभाव नहीं है। आकाश-कामी ज्योत्स्ना-मोहित नयनों को सर्प में भी माला का भ्रम हो सकता है। ये उसे कण्ठ-हार बनाने की भूल भी तो कर सकते हैं।

फिर उन्नि की याद आ गई। रंगनाथन सिहर उठे। लक्ष्मा भी कहीं विक्षिप्त न हो जाये। इन्होंने निश्चय किया था, कांजीवरम से लौटते ही जोसेफ को कहेंगे। अगली प्रातः एक प्रहर रात रहते इन्होंने कांजीवरम से प्रस्थान किया था। सभी को प्रत्याशा थी कि अब शिवकांची से निमन्त्रण आयेगा। अब तक सदा यही क्रम चला था। वैष्णव होने के कारण ये अपने गीत की प्रथम अंजलि वरदराज के शत-स्तम्भ मण्डप में ही अर्पित करते थे। इसके बाद आह्वान आता शिवकांची से। फिर क्रमशः एकाम्बरेश्वर, मातंगेश्वर, ऐरावतेश्वर तथा त्रिपुरान्तकेश्वर के मन्दिर में उनके गीत होते थे। कई बार तो एक यात्रा में सारे मन्दिरों के कार्यक्रम पूरे ही नहीं होते थे। दो-तीन बार कांजीवरम की यात्रा करनी पड़ती थी। इस बार किसी भी मन्दिर से निमन्त्रण नहीं आया

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

था। इन्होंने एकाम्बरेश्वर के मन्दिर के कर्त्तृ-पक्ष के पास दूत भेजा था। 'रंगनाथन ने कल प्रभु वरदराज को अपना गान सुनाया था, आज प्रभु एकाम्बरेश्वर के मण्डप में—'

बीच में ही मठाधीश रूढ़ भाव से बोल उठे, 'ना।'

दूत विस्मित हो उठा था। कुछ समझ नहीं पाया। केवल विभ्रान्त-सा होकर स्तब्ध खड़ा रह गया। न कुछ उत्तर दे सका, न लौटकर आ ही पाया।

मठाधीश ने ही कहा, 'अभी एकाम्बरेश्वर ने अपने द्वार बन्द कर रखे हैं। अर्जुन के तप से प्रभावित होकर वे किरात देश में अवतरित हुए थे। उस किरात वेश के लिये वे क्या प्रायश्चित करें, यही चिन्ता कर रहे हैं। प्रायश्चित शेष होने पर, रंगनाथन जब अपना गीत पूर्ण कर लेंगे, तभी सुनेंगे एकाम्बरेश्वर।'

दूत के मुख से सारी बातें सुनकर रंगनाथन कुछ चिन्तित हो उठे थे। उनसे कौन-सी भूल हो गई है? महेश्वर की महिमा के कीर्त्तन में कहीं कोई अपराध तो नहीं हो गया? चिन्तित भाव से ही लौटे थे वह आश्रम में।

आश्रम लौटकर रचना की पुनः परीक्षा की थी—बड़े यत्न और तीक्ष्ण सतर्कता के साथ विश्लेषण किया था। पर कहीं भी तो कोई अपराध, कोई त्रुटि दृष्टि में नहीं आई। अचानक ध्यान आया—वेदव्यास ने लिखा था—स्वर्णकान्ति, किरातरूपी महादेव। हाँ, यहाँ पर रंगनाथन ने व्याख्या की थी—हिमगिरि के अरण्यों में जो हिमाचल के कांचनजंघा की स्वर्णच्छटा से प्रतिभासित होकर स्वर्णकान्ति बनकर भ्रमण करते हैं, वही नीलगिरि पर शबर वेश में, नील समुद्र का लावण्य अंगीकृत करके नीलाभ कृष्णकान्ति धारण करके विचरण करते हैं। इसमें कुछ अपराध हुआ है? ना—कदापि नहीं। और क्या? महाभारत में अंग-गन्ध का प्रसंग नहीं है। इन्होंने अंग-गन्ध का उल्लेख किया था। कहा था, देवता जब व्याध, शबरादि वेश धरते हैं तो अपने शरीर की देव-गन्ध छिपाकर कटु-गन्ध को धारण करते हैं। इसमें कोई अपराध हुआ? नहीं, वे नहीं मानते। अगले दिन पत्र लिखने बैठे वे। लिखा भी—

'महामान्य पूज्यपाद आचार्यदेव, देवाधिदेव एकाम्बरेश्वर द्वार रुद्ध करके, किरात वेश धारण करने के अपराध का प्रायश्चित करने की चिन्ता कर रहे हैं, यह सुनकर कौतुहलवश एक प्रश्न निवेदन कर रहा हूँ। देवाधिदेव क्या अनादि-काल से श्मशान-वास के निमित्त भी प्रायश्चित करने पर विचार कर रहे हैं?'

लिखकर, देर तक पत्र हाथ में लिये बैठे रहे—भेजें? या नहीं?

तभी इनके कानों में संगीत का स्वर पड़ा। समुद्र-तट पर कोई गा रहा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

था। बड़ा मधुर नारी-कण्ठ था। लल्ला है यह तो! लल्ला गा रही है। समुद्री पवन उसकी स्वर-लहरी वहन किये तट-भूमि की ओर बह रहा है। 'तिरक्कुल' का पद था। तुम्हें प्रणाम है ऋषि तिरुवल्लुवर। कैसी-कैसी रचनाएँ दे गये हो! लल्ला गा रही है—

नहीं सुनी क्या कलित-काकली कभी बाल-गोपाल की ?
फिर क्यों मिथ्या मोह तुझे वंशी-वीणा के स्वर से ?

वाह! हाँ, पहले कभी भी रंगनाथन ने इतने मनोयोग से लल्ला का गायन नहीं सुना था। स्वर कर्ण-कुहरों में प्रवेश करते थे, अच्छे लगते थे—बस। लल्ला के प्रति मन में विशेष कौतुहल भी नहीं था। पर आज कौतुहल के अनेक कारण थे।

उसके सम्बन्ध में जोसेफ की बातें सुनकर रंगनाथन विस्मित हुए थे। जोसेफ क्रिस्तान हो गया है, इसलिये लल्ला उससे एक मुट्ठी चावल की भी सहायता स्वीकार नहीं करती। स्वयं क्रिस्तान होना नहीं चाहती, इसीलिये गीत गा-गाकर भिक्षा से जीवन-निर्वाह करती है। क्रिस्तानों की पोशाक का लोभ संवरण कर लिया है; उनके प्रबल प्रताप के मोह से भी आच्छन्न नहीं हुई। उनकी उज्ज्वल त्वचा से चौंधिया नहीं गई। इसे साधुवाद दिये बिना नहीं रहा जाता।

और फिर उन्नि को देखकर इसके प्रति एक आशंका भी मन में जागी थी। यह असहाय बालिका भी यदि उसी प्रकार पागल हो जाये! नहीं, नहीं!

परसों कांजीवरम में गोपुरम के आगे कृतांजलि बाँधे लल्ला के श्रद्धाभारावनत नयनों की दृष्टि देखकर अन्तर में अनायास ही स्नेह जागृत हो उठा था। आज यह गा रही है—महर्षि तिरुवल्लुवर के 'तिरक्कुल' का पद। मन-ही-मन प्रशंसा किये बिना न रह सके रंगनाथन। बहुत सीख गई है लल्ला।

उस दिन ये घर से निकल पड़े। सागर-तट पर आकर देखा, नारिकेल-कुंज में एक वृक्ष के तने का सहारा लिये बैठो लल्ला गा रही है—

कृष्णगोपाल — कृष्णगोपाल — कृष्णगोपाल —
वरदराज — वरदराज — बालगोपाल !

यह अंश स्वयं लल्ला ने ही जोड़ा है। बुद्धिमती है। वाह! पीछे की ओर से आते-आते अचानक जोरों से ही उनके मुँह से निकल गया—'वाह!'

लल्ला चौंक उठी। चकित होकर, पीछे मुड़कर इन्हें देखते ही, लजा से आनत दृष्टि भूमि पर टिकाकर प्रस्तर-प्रतिमा-सी खड़ी रह गई। रंगनाथन ने कहा, 'वाह! तुम तो बहुत सुन्दर गाती हो—बहुत सुन्दर!'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लल्ला उत्तर न दे सकी। नीरव भाव से मानो कुछ और नत हो गई। रंगनाथन भी कहने को कोई और बात नहीं खोज पाये। सम्भवतः इसीलिये बोल उठे, 'रुक क्यों गई? गाओ ना!'

रुद्ध कण्ठ से बड़े ही मृदु स्वर में वह बोली, 'नहीं, प्रभु। आपके सामने नहीं गा सकूँगी।'

रंगनाथन ने अब पूछा, 'तिरुक्कुल का पद कहाँ सीखा?'

'मठ में सुनकर, प्रभु।'

'केवल सुनकर ही?'

'हाँ, प्रभु। जितना याद रह जाता है, लिख लेती हूँ।'

'लिखना आता है? हाँ, जोसेफ ने कहा तो था, तुमने पाँदरियों की पाठशाला में लिखना-पढ़ना सीखा है।'

'थोड़ा ही सीखा था। फिर माँ ने मना कर दिया।'

'हाँ, सुना है।'

'माँ ने कहा था—लल्ला, तेरा बाप कहता था, मेरी कलावन्नी पर वरदराज स्वामी की किरपा रहेगी।'

'कलावन्नी कौन?'

अब उसने मुख उठाकर स्मित-हास्य के साथ कहा था, 'मैं, प्रभु। लल्ला तो मेरा प्यार का नाम है। बचपन से ही मैं गा लेती थी। वरदराज की स्तुति गाकर नाच भी लेती थी। बापू ताल देते थे। कभी भी ताल भंग नहीं होने देती थी मैं। इसीलिये बापू ने यह नाम—कांजी से लाये थे यह नाम वे। एक वैष्णव साधु से उन्होंने मेरी बातें कही थीं—मेरी बातें करते वे कभी थकते नहीं थे। साधु ने कहा था—तुम्हारी कन्या कलावन्नी है, वरदराज की किरपा रहेगी इस पर।'

रंगनाथन अब समझे। मुस्कुराकर बोले, 'ओह! कलावन्ती!'

'हाँ प्रभु, कलावन्नी,' लज्जित होकर उसने मस्तक झुका लिया।

मन-ही-मन रंगनाथन ने उसका नाम दुहराया—कलावन्ती—कलावन्नी—कलावन्नी!

फिर हठात् बोल उठे, 'कलावन्नी—कल्याणी, कल्याणी! कल्याणी ही बनो तुम।'

उसने मस्तक उठाया, 'कल्याणी!'

'हाँ, कल्याणी। तुम कलावन्ती भी हो, कल्याणी भी। पर मुझे तुम्हारा कल्याणी रूप ही अधिक प्रभावित करता है, लल्ला। मैं तुम्हें कल्याणी ही कहकर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पुकारूँगा।'

मानो कृतार्थ होकर मुग्ध-कण्ठ से उसने कहा, 'कल्याणी !'

'हाँ, कल्याणी। नृत्य-गीत में पारंगत हो न तुम। तुम्हारा कलावन्नी नाम सार्थक होगा। लेकिन जीवन में तुम कल्याणी बनना।'

दूर से ही वह बेला-भूमि पर प्रणत हो गई। रंगनाथन ने आगे बढ़कर परम स्नेह से उसकी रुक्ष केश-राशि पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया, 'कल्याणी बनो !'

उस भूमिष्ठ अवस्था में ही वह चौंक उठी—उसके मस्तक पर रखे हाथ से इन्होंने भी उस चमक का अनुभव किया। उठकर कातर स्वर में वह बोली, 'मुझे आपने छुआ, प्रभु !'

रंगनाथन ने कहा, 'उस दिन कांजीवरम में तुमने मेरा गान सुना था न ! सुना नहीं, वैकुण्ठवासी प्रभु ही पृथ्वीवासी मनुष्यों के स्वेत-कृष्ण चर्म के अन्तराल में निवास करते हैं।...यह क्या ! तुम रो रही हो ?'

नेत्र पोंछकर, हँसने की चेष्टा करती हुई वह बोली, 'आपकी बातें सुनकर मुझे रोना आता है, प्रभु। ऐसी बातें तो और कोई नहीं करता। आप बड़े अच्छे हैं, प्रभु।'

अचानक ही इन्हें वह बात याद आ गई, जो ये जोसेफ को कहना चाहते थे। ऐसी किशोरी, ऐसा कण्ठ-स्वर, शबरों में दुर्लभ नवपल्लव-सा शामल वर्ण, सुगठित देह, ये दीर्घायित नयन ; आज इस मत्स्यन्याय के युग में—'

उन्नि की याद आई। ये बोले, 'तुम्हारा अभिवावक कौन है, कल्याणी ?'

ये लल्ला की ओर देख रहे थे और वह आनत नयन, सिर झुकाये बैठी थी। ये शब्द वह मानो सुन ही नहीं पाई। इन्होंने फिर पुकारा, 'कल्याणी !'

'मुझे कह रहे हैं, प्रभु ?'

'हाँ, अभी-अभी तो तुम्हें यह नाम दिया है।'

वह हँसकर बोली, 'कलावन्नी नाम भी हर समय मुझे याद नहीं रहता। लल्ला न कहने से—' वह फिर हँसने लगी।

'तुम्हारा अभिभावक कौन है ? जोसेफ ?'

'अभिभावक ? नहीं, प्रभु। कोई मनुष्य मेरा अभिभावक नहीं है। बचपन में ही, जब मैं छः-सात वर्ष की थी—'

'जानता हूँ, जोसेफ ने कहा था। बोला था, तुम्हें भी क्रिस्तान—'

'वह बात सुनने को भी मना कर गई है मेरी माँ। बापू कह गये हैं, मुझ पर वरदराज की किरपा रहेगी। चाचा मेरा अभिभावक नहीं है। हमारा सर्वस्व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ले लिया है उसने। यह व्यवसाय बापू का ही तो था। घर-जमीन, सब उसने दखल कर ली है। मुझे भी, बस चलता तो फिरंगियों के हाथ बेच देता।'

उसके शान्त-सुन्दर नयन उत्तेजना से विस्फारित हो उठे। मसृण ललाट भी कुंचित हो उठा था। रंगनाथन ने पूछा, 'तो फिर कौन है तुम्हारा अभिभावक ?'

'माँ मरते समय कह गई थी—लक्ष्मा, वरदराज तेरी रक्षा करेंगे।'

यही उचित अवसर था। वे बोले, 'तुम्हारे पिता क्या तुम्हारा विवाह-सम्बन्ध कहीं स्थिर नहीं कर गये ?'

'नहीं, प्रभु।'

'तुम्हारो माँ ?'

'वह भी नहीं, प्रभु। उसने कहा था—इनमें से किसी का भी विश्वास नहीं है, लक्ष्मा। ये सब क्रिस्तान हो जायेंगे। तू तो बस वरदराज के मन्दिर के बाहर झाड़ू लगाया करना, भिक्षा से काम चलाना।'

'तो फिर—'

'मैं वही करूँगी, प्रभु। गा सकती हूँ। बचपन से ही गीत गा-गाकर भिक्षा माँगती रही हूँ। मेरा जीवन अधिकतर देव-स्थानों के बाहर ही बीता है। गाँव में कभी-कभी ही आती हूँ। इन लोगों की तरह रहना—मुझसे नहीं होगा, प्रभु !'

उसने हठात् समुद्र की ओर मुँह फिरा लिया। फिर बोली, 'मैं आपके पास आने ही वाली थी, प्रभु। यदि गायन और कथाकलि नृत्य सीखने की कोई व्यवस्था कर सकें—'

'तुम्हारे चाचा ने भी मुझसे कहा था—'

'वह मेरा शत्रु है। मेरे सामने उसका नाम मत लीजिये। मेरा ही नहीं, आपका भी शत्रु है। आज प्रातः कांची से लौटकर गाँव गई थी। वहाँ देखा, चाचा आपका नाम लेकर लाल-पीला हो रहा था। कह रहा था, आपने गीत में शबरों का अपमान किया है, वह आपसे बदला लेकर रहेगा।'

रंगनाथन ने विस्मय से पूछा, 'मैंने अपमान किया है ?'

'वह लोग तो यही कह रहे थे।'

'और तुम ? तुम भी तो शबर-कन्या हो, कल्याणी। क्या तुम्हें भी आघात पहुँचा है ?'

'उस रात आपका गीत सुनकर रोई थी। आप जब बाहर निकल गये, तब भी मेरी पलकें गीली थीं। उस दिन रोकर ही समझी, कि प्रेम में भी मनुष्य रो पड़ता है।'

'तो फिर ये लोग क्यों क्रुद्ध हैं, बता सकती हो ?'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'यह तो नहीं जानती। यही लोग नहीं, सुना है, शिवकांची में भी आपको कभी नहीं बुलाया जायेगा।'

'मुझे पता है।'

फिर बहुत देर तक दोनों स्तब्ध खड़े रहे। रंगनाथन समुद्र की ओर देख रहे थे, लक्ष्मी भूमि की ओर। दोपहरी की आभा से समुद्र घनतर नील हो उठा था। तरंग-शीर्ष की तीव्र उज्ज्वलता धूप में झिलमिला उठती और अगले ही पल फिर नीचे की गहन नीलिमा में विलीन हो जाती। ये केवल सोच रहे थे—क्यों?

'क्यों? इन्होंने--'

'प्रभु!'

'कुछ कह रही हो?'

'आपने मेरे माथे पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया था। अब जाते समय मैं आपके चरण-स्पर्श करके प्रणाम कर लूँ?'

'निश्चय। तुम कल्याणी हो। और मेरे प्रभु के लिये संसार के सभी मनुष्य उनके ही रूप हैं—वही हैं—भक्त केवल मैं हूँ।'

'कितनी सुन्दर बात कही आपने, प्रभु!' प्रणाम करके उठने के बाद वह बोली, 'मैं शबरी हूँ, इसलिये क्या मुझे नाच-गान सीखने का सुयोग नहीं मिलेगा, प्रभु?'

'मिलेगा क्यों नहीं! मैं देखूँगा।'

वेला-भूमि पर सजी नारियल-सुपारी के वृक्षों की घनी वीथिका के मध्य से होकर वह चली गई थी। ये चिन्तित भाव से लौट आये थे—क्यों? क्यों? कहाँ त्रुटि हुई मुझसे?

अन्त में चित्त को दृढ़ करके ये कह उठे थे, 'ना। त्रुटि मुझसे नहीं हुई है। नहीं। मैंने तो केवल सत्य पर प्रकाश डाला है। सत्य भी तो कटु होता है। मिथ्याश्रयी और भ्रान्त व्यक्ति उसे सहन नहीं कर पाते, क्रुद्ध होते हैं।'

हों—क्रुद्ध हों वे! रंगनाथन इस गीत को गायेंगे—इसके स्वर से समस्त देश को आच्छन्न कर देंगे।

यह थी एक मास पूर्व की घटना। एक मास पश्चात्, कल थी शुक्ला-त्रयोदशी। कल ही गीत गाकर लौटते समय यह घटना हो गई।

× × ×

कल भी लक्ष्मी थी—बाहर खड़े श्रोताओं की प्रथम पंक्ति में ही। कल भी उसके मुख पर दीपाधार का प्रकाश पड़ रहा था। वह इन पर श्रद्धा करती है—असीम श्रद्धा। इन्हें इस श्रद्धा से अवगत भी कराना चाहती है वह। तभी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रत्येक गीति-निवेदन के समय वह इस प्रकार खड़ी रहती है। कल भी उसकी विशाल पलकें आर्द्र थीं। इन्होंने उसकी ओर देखा था, बात करने की इच्छा भी थी, पर तभी कन्याकुमारी के यात्रियों का एक दल पार्थसारथी तथा कपालीश्वर के दर्शनों को आ पहुँचा था। उनमें से एक प्रौढ़ा कुमारी संन्यासिनी आकर इनका अभिनन्दन करने लगी। इसमें जो विलम्ब हुआ, उसी में वह जा चुकी थी। आज अज्ञात आततताइयों के द्वारा इनके आहत होने का समाचार पाकर आई है। दौड़ती हुई आई थी। गोशाला तक पहुँचते-पहुँचते मानो आर्त्त वेदना से टूट-सी पड़ी थी। तभी खूँटे के सहारे अपने को किसी प्रकार सँभाल रही थी। उसके छलकते नयनों को इन्होंने भी देखा था। अधर भी काँप रहे थे। उस शान्त, कोमल-प्रकृति, भक्तिमती कन्या को यदि कुछ कहने का अवसर भी मिलता, तो सम्भवतः केवल 'प्रभु' का उच्चारण करते ही उसका कण्ठ रुँध जाता, पलकों की कोरों से अश्रुधारा बह निकलती। अधरों का कम्पन और अधिक बढ़ जाता। उसी कन्या को ये लोग शबरों की चरी ठहरा रहे हैं!

पर वे लोग क्या शबर थे? यदि शबर थे, तो उन्होंने इन्हें मारा क्यों? इन्होंने तो उनके प्रेम से प्रेरित होकर ही अपने सम्पूर्ण जीवन का आवेग ढालकर उस परम सत्य को प्रकाशित किया था। इसके पहले तक तो वे लोग इन्हें अपने स्नेह की अजस्र धारा से अभिषिक्त करते रहते थे। उनके बाल, वृद्ध, प्रौढ़, युवक——सभी की प्रशंसा-मुग्ध दृष्टि तथा सम्भ्रमपूर्ण हास्य द्वारा की गई अभ्यर्थना की तुलना इन्हें बड़े-बड़े ब्राह्मण, शैव, गुणी-धनी समाज में भी नहीं मिली थी। उस विद्वत्समाज ने दिया था प्रसाद, ये लोग करते हैं पूजा। तो फिर? इसके अतिरिक्त——। गन्ध का प्रश्न भी उठा था। बात युक्तिसंगत ही थी। शरीर की गन्ध छद्मवेश में नहीं छिपती। गात्र-गन्ध इन्हें मिली भी थी। क्या शबरों की थी वह?

ना।

तो फिर शैव-भक्तों की?

पर वे भी इस सीमा तक विक्षिप्त क्यों होने लगे? वैसे हो भी सकते हैं। धर्म का आवेग सभी आवेगों से बढ़कर होता है। स्वर्ग से पृथ्वी पर गंगा जो प्रचण्ड वेग लेकर उतरी थी——जिस वेग के आगे ऐरावत भी नहीं ठहर पाया——धर्मोन्माद का वेग उससे भी प्रबल है, उससे भी कहीं अधिक प्रचण्ड।

एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा इन्होंने। क्या करें ये? इन्होंने तो इस द्वन्द्व-कलह की, इस हिंसा की कामना नहीं की थी, सुधार करना चाहा था। फिर यह सब क्यों हुआ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'आचार्य रंगनाथन हैं ?'

सुनकर चौंक उठे रंगनाथन। जोसेफ का कण्ठ-स्वर था। जोसेफ--

'आचार्य--'

स्वयं को संयत करके इन्होंने कहा, 'जोसेफ, आओ, आओ।'

जोसेफ भीतर घुस आया। उसकी प्रखर दृष्टि, पद-क्षेप, सभी मानो युद्ध-कामना से प्रचण्ड हो रहे थे--दीर्घ, सबल, और अकारण ही उद्धत।

'सुना, कल रात को अँधेरे में किसी ने तुमको मारने की चेष्टा की ?'

कुछ मुस्कुराकर रंगनाथन बोले, 'हाँ, मस्तक पर प्रहार करके वे लोग भाग खड़े हुए। मेरे संगी निकट ही थे, और संख्या में भी उनसे अधिक। नहीं तो, सम्भव है--'

'मुझे दुःख है, आचार्य। पर इससे भी बड़ा दुःख इस बात का है कि तुम हम पर सन्देह करते हो।'

'मैंने तो नहीं किया जोसेफ, औरों ने किया है। तुमने मद्रास में श्रेष्ठी गोपालन के--'

'हाँ, हाँ, कहा था। मुझे बहुत बुरा लगा था।'

'एक प्रश्न पूछूँ तुमसे ?'

'कि मैंने मारा है या नहीं ? आचार्य, मैंने अगर मारा होता, तो इतना-सा आघात देकर ही नहीं छोड़ देता। उच्चवर्ण के हिन्दू, विशेषकर अय्यर लोग, हृदय से कितने ही भीरु, और शरीर से कितने ही दुर्बल हों, स्वभाव से कुटिल और विषैले होते हैं--साँप-जैसे। इन्हें केवल छेड़कर छोड़ देना विपत्तियों को न्यौता देना है। मैं जान लिये बिना नहीं छोड़ता।'

'मैं यह नहीं पूछ रहा था।'

'ओह ! तो फिर मैं क्रिस्तान हूँ, इसलिये पूछ रहे हो ? सुनो आचार्य, क्रिस्तान होकर भी मैं यह नहीं भूल पाता कि जन्म से मैं शबर था।'

'यह भी नहीं, भाई। मैं पूछ रहा था कि मैं तो तुम लोगों से प्रेम करता हूँ। यही बात मैंने कही भी थी। इससे तुम्हें दुःख क्यों हुआ ?'

'क्यों ?'

इस प्रश्न से जोसेफ स्तब्ध होकर इनकी ओर देखता रह गया, किसी विचार में खो गया। फिर बोला, 'तुम्हारी बात तो सच है। इस दृष्टि से मैंने देखा ही नहीं था। पर यह बात सच है रंगनाथन, कि गाना सुनकर हमें बहुत बुरा लगा था। हाँ, यह भी कहूँगा, कि मारा हम लोगों ने नहीं था, विश्वास करो।'

'विश्वास करता हूँ, जोसेफ।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'मेरी भतीजी लक्ष्मा आई थी ? सुना, यहाँ उसे मेरी गुप्तचरी कहकर श्रीनिवासन ने पकड़वाना चाहा था !'

'हाँ। मैंने प्रतिवाद किया था जोसेफ, पर वे लोग माने नहीं।'

'यह भी सुना है। पर वह तो तुम्हारी भक्त है। हम सबसे अधिक वही तुम्हारे गायन की भक्त है। इसीलिये आई होगी वह। वह हमारी गुप्तचरी नहीं है। हमारी वह कुछ भी नहीं है। उसकी माँ उसे हमसे पराया कर गई है—भिखारिन बना गई है उसे। उसे मन्दिर बुहारकर पेट भरने को कह गई है। वह भिखारिन है—शबरों से भी अधम। गुप्तचरी होगी, तो शैवों की; हमारी नहीं।' फिर एक तिक्त हँसी हँसकर बोला, 'चरी वह किसी की भी नहीं है, रंगनाथन। वह है केवल तुम्हारी जूठन की लोभी कुतिया।'

'जोसेफ !' रंगनाथन का स्वर उच्च हो उठा।

जोसेफ हँसकर बोला, 'उस दिन समुद्र-तट पर तुम दोनों का वार्त्तालाप हम में से कुछ लोगों ने देखा-सुना है। उसके लिये तुम बड़े भले हो रंगनाथन, बड़े भले। उसके माथे पर हाथ रखकर तुमने आशीर्वाद दिया, उसने तुम्हारे पाँव छुए, हमसे कुछ भी छिपा नहीं है। अगर वह हममें से होती, तो हम तुमसे कैफियत तलब करते। पर वह तो भिखारिन है। हमारी वह कोई भी नहीं है। आचार्य रंगनाथन, तुम्हें मारनेवाला व्यक्ति अगर लक्ष्मा का कोई असफल प्रेमी हो, तो भी मुझे आश्चर्य नहीं होगा। तुम्हारा गाना सुनकर उस पर मानो जादू हो जाता है। तुम सम्भवतः यह नहीं जानते, पर हम जानते हैं। जो शबर तुम्हारे गीत सुनने जाते हैं, वही लौटकर मुझे बताते हैं। उस दिन इस बात के प्रसंग में भी बोले थे।'

रंगनाथन जाने कैसे संकुचित-से हो गये। विस्फारित दृष्टि से जोसेफ की ओर देखते रह गये। जोसेफ ने कहा, 'तुम्हें चोट लगी है। इसका हमें दुःख है। मैं अगर चोट करता, तो हत्या किये बिना न छोड़ता। वह लड़की हमारी कोई नहीं है। अच्छा, चलता हूँ।'

वह चला गया। रंगनाथन स्तम्भित-से खड़े रहे।

सब कुछ मानो अर्थहीन-सा हो गया था—दुर्बोध्य, विशृङ्खल, शून्य। मनोलोक में अंधकार छा गया था। कानों में कोई स्वर प्रवेश नहीं कर रहा था। हृदय पर जाने क्या निरन्तर प्रहार किये जा रहा था।

हे वरदराज स्वामी ! क्षमा करो। क्षमा करो, प्रभु !

अकस्मात्, एक यन्त्रणा-कातर आर्त्तनाद कानों में पड़ते ही वे चेतन हो उठे—चकित भी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'हाय ! हाय ! हाय री अम्मा !'

क्या ? कौन ? कहाँ ?

'ऊँ हूँ—हाय !'

अरे, यह तो लह्ला है ! पर—।

स्वर का अनुसरण करते हुए रंगनाथन ने गोशाला की ओर देखा। कुटी के पास ही पुआल का एक स्तूप था। वह हिल रहा था। चीत्कार भी वहीं से आ रहा था। वे द्रुत पगों से उस ओर गये। पुआल का ढेर भहराकर बिखर गया। उसके पीछे ही वृक्षों की घनी पंक्ति थी। वहीं से, पुआल को परे सरकाती उठ खड़ी हुई लह्ला ! रूखे केशों में, मुख पर, तृण-खण्ड चिपके हुए थे, पर इस ओर उसका ध्यान नहीं था। यन्त्रणा से उसका मुख विकृत हो रहा था। उस यन्त्रणा में भी लज्जा-संकोच के मारे उसने प्राण-पण से अपने-आपको सँभालने की चेष्टा की।

'क्या हुआ, लह्ला ? लह्ला !'

'उफ् ! न जाने क्या काट गया है मुझे, प्रभु !'

'कहाँ काटा है ? किस स्थान पर ?'

'पीछे, गर्दन के नीचे। बालों में छिप गया है।'

'देखूँ तो।'

लज्जा के मारे वह मानो धरती में समायी जा रही थी। बोली, 'नहीं, प्रभु ! मैं जाकर समुद्र में डुबकी लगाती हूँ। अपने-आप छूट जायेगा।'

'नहीं, मुझे देखने दो। लज्जा की कोई बात नहीं है।'

'मैं शबरी हूँ।'

'नहीं, तुम मानवी हो। बात मानो। उस ओर मुँह करो।' कहते-कहते वे स्वयं ही उसके पीछे जा खड़े हुए। वह भी चुपचाप बैठी रही। रंगनाथन ने उसके रूक्ष, अयत्नबद्ध, धूलि-धूसर केशों में जल्दी से हाथ डाला।

लह्ला बोली, 'देखियेगा प्रभु, आपको न काट बैठे।'

रंगनाथन ने शीघ्रता से केशों को एक ओर हटाते हुए कहा, 'वहाँ क्यों घुसी थीं ?'

'भय से, प्रभु। भीतर जब शबरों की बातें हो रही थीं, श्रेष्ठी गोपालन बाहर, मेरी ओर संकेत कर रहे थे। मैं भय के मारे उस पुआल के पीछे छिप गई थी। फिर जब मेरा नाम लेकर खोज-पुकार मची, तो मैं इसीके अन्दर—'

रंगनाथन बोल उठे, 'यह क्या ! यह तो—उफ् ! रक्त निकाल दिया काटकर !'

विषाक्त, वृश्चिक-जातीय कीट था। केकड़े-जैसे पाँवों से ग्रीवा के माँस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तक को जोरों से जकड़ रखा था, और हूल से डँस रहा था। पाँवों के क्षत से रक्त की धारा बह रही थी, तब भी वह उसी प्रकार दृढ़ता से, मानो निष्ठुर आक्रोश से चिपका था। कुछ पल विचार करके रंगनाथन ने अपने उत्तरीय की तह करके उसमें लपेटकर जोरों से उसे खींच लिया। लल्ला यन्त्रणा से चीत्कार कर उठी, 'हाय !'

पर बीच में ही अपने को संयत कर लिया उसने। उस वृश्चिक को मारकर रंगनाथन ने कहा, 'वह विषाक्त था, लल्ला। तुम्हें अवसन्नता का अनुभव तो नहीं हो रहा है ?'

'हाँ, प्रभु।'

'तुम्हें विश्राम करना होगा। मेरे पास औषधि है, लगा दूँगा। उठो। उठ सकोगी ?'

'मुझे किसी वृक्ष के तले सुला दें, प्रभु।'

'नहीं, घर में चलकर विश्राम करो।'

'ना !' आर्त्त स्वर में कह उठी वह।

'ना, नहीं। उठो।'

'तो फिर, उस गोशाला में—'

'नहीं, नहीं। उठो। यह क्या ? तुम तो काँप रही हो !'

'बड़ी यन्त्रणा हो रही है। और—'

मुख, अधर, सब शुष्क हो आये हैं, पलकें ढली पड़ रही हैं। ठीक से खड़ी भी नहीं हो पा रहीं है। रंगनाथन ने उसे हाथों पर उठा घर में ले जाकर लिटा दिया। बुदबुदाकर उसने प्रतिवाद भी किया, पर जिह्वा मानो जड़ होती जा रही थी। रंगनाथन ने उसे थोड़ा-सा जल पिलाया और मुख धो दिया। सिर धुलवाना भी आवश्यक था। उसे पिछले बरामदे में ले जाकर ढेर-सारा जल ढाला सिर पर। थोड़ा-सा जल और पिलाया। कुछ स्वस्थ होकर नेत्र खोलने की चेष्टा की लल्ला ने।

रंगनाथन बोले, 'चुपचाप सोई रहो। मैं बाहर से एक जड़ी लिये आता हूँ। थोड़ी-सी खिलाने और घिसकर लगाने से सब ठीक हो जायेगा। सुनो, तुम उठो मत, लेटी रहो।'

अपने उद्यान में से उन्होंने जड़ी खोज निकाली और काली मिर्च के साथ पीसकर लल्ला को खिला दी। कुछ समय बाद लल्ला यन्त्रणा के उपशम की स्वस्ति से कह उठी, 'आह !' और हाथ बढ़ाकर कुछ टटोलने लगी।

'क्या खोज रही हो ?' रंगनाथन ने पूछा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'आपके चरणों की धूल···'

'नहीं !'

'दीजिये ना, प्रभु। उससे मुझे बल मिलेगा।'

अब द्विधा नहीं की रंगनाथन ने। विश्वास के बल को वे जानते थे। उसके माथे पर हाथ फेरकर बोले, 'अब कुछ देर सो जाओ।'

'मैं अब बाहर···'

'चुप !'

अभी तक वे उत्कण्ठित दृष्टि से वातायन की ओर देख रहे थे। अब जाकर उसके पास खड़े हो गये। वृक्ष-पंक्ति की फाँक से दिखाई दिया, शहर से ग्राम जानेवाले पथ पर दूर से दो अश्वारोही और कुछ अन्य लोग आ रहे हैं। अश्वारोहियों ने कोतवाली की पोशाक पहन रखी है—मद्रास में फिरंगियों की कोतवाली की पोशाक। कहाँ जा रहे हैं ये लोग ? कहीं यहीं तो नहीं आ रहे ? आ ही रहे हों, तो ? सम्भव तो है। उनका मस्तक घूम गया।

लक्ष्मी अवसन्न लता-सी पड़ी हुई है। सम्भवतः नींद आने लगी है। विष और औषधि, दोनों के प्रभाव से कुछ-एक प्रहर ऐसे ही आच्छन्न पड़ी रहेगी।

वे लोग लक्ष्मी की तलाश में थे। श्रीनिवासन प्रतिकार करने की प्रतिज्ञा कर गये हैं। यदि वे लोग लक्ष्मी को पकड़ लें ? पल भर में रंगनाथन ने अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लिया। साथ के छोटे कक्ष का द्वार खोला। यह कक्ष भी दो कोठरियों में बँटा हुआ था—एक भण्डार, और भीतरी भाग पूजा-गृह। पूजा-गृह में एक सुन्दर-से सिंहासन पर वरदराज स्वामी की अनुकृति थी। उनके पास ही लक्ष्मी थीं और एक दूसरे आसन पर पीतल की नटराज-मूर्त्ति। भाँति-भाँति के सुन्दर समुद्री शंखों, सीपियों, कौड़ियों इत्यादि से स्थान सजाया हुआ था। सामने फूल बिछे थे। इसी कोठरी में देवता के सामने भूमि पर उन्होंने लक्ष्मी की मृदुल, कमनीय देह को लाकर लिटा दिया। मन-ही-मन कहा—इसका कोई अपराध नहीं है, प्रभु। अपराध यदि कोई है, तो मेरा है। दण्ड देना है, तो मुझे देना प्रभु, इसकी रक्षा करना।

शीघ्रता से निकलकर उन्होंने द्वार पर ताला जड़ दिया, फिर अपने कक्ष में आकर भण्डारवाला द्वार भी बन्द कर दिया, और अपने आसन पर बैठ गये।

मस्तक के क्षत में अब पीड़ा हो रही थी। क्लान्ति का भी अनुभव हो रहा था। एक दीर्घ श्वास छोड़कर मन-ही-मन बोले, 'हे वरदराज ! हे वैकुण्ठेश्वर !'

अश्व-पद-शब्द आश्रम के बाहर ही थम गया। रंगनाथन समझ गये, उनका अनुमान मिथ्या नहीं था। वे लोग यहीं आये हैं। अगले ही क्षण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कण्ठस्वर भी सुनाई पड़ा, 'आचार्य रंगनाथन !'

'आइये।'

कोतवाली के कर्मचारियों ने भीतर आकर अभिवादन किया। रंगनाथन उठकर बाहर आये, 'कहिये।'

'माननीय श्रीनिवासन ने हमें भेजा है। कहा है, आपके आश्रम पर पहरा देना होगा। शहर में भाँति-भाँति की जनश्रुतियाँ फैल रही हैं। सुनने में आया है, आचार्य पर किसी भी क्षण आक्रमण हो सकता है।'

'यह क्या ! मुझ पर भला कौन आक्रमण करेगा, और करेगा ही क्यों ?'

'जिन्होंने पहले किया, और जिस कारण से किया था।'

रंगनाथन विव्रत हो उठे, कुछ तिक्त भी, 'नहीं, नहीं, नहीं ! यह धारणा भ्रान्त है। यह असम्भव है। आप लोग जाइये।'

'हम आदेश के दास हैं। स्थान त्याग करने का आदेश नहीं है।'

'तो फिर मैं ही स्थान त्याग करता हूँ।'

'ऐसी स्थिति में प्रभु, हममें से एक आपका सहगामी होगा, और एक यहाँ रहकर आश्रम की रक्षा करेगा।'

स्तम्भित हो गये रंगनाथन। विद्रोही स्वर में बोल उठे, 'यह कैसा अत्याचार है !'

कर्मचारी बोला, 'यही नहीं आचार्य, माननीय श्रीनिवासन ने कहलवाया है कि आप उन्हें सूचित किये बिना कहीं भी गीत गाने न जायें।'

'कांजीवरम, महाबलिपुरम् तथा तंजौर के सब स्थान अभी भी कम्पनी की अधिकार-सीमा के बाहर हैं। वहाँ निश्चय ही यह आदेश नहीं चलेगा।'

'जी हाँ, वहाँ नहीं चलेगा। पर मद्रास प्रान्त की सीमा तक हम साथ रहेंगे। वहाँ से लौट आयेंगे। आचार्य को ज्ञात नहीं है, हम शहर में कैसी प्रबल उत्तेजना देख आये हैं। अपने ऊपर दोषारोपण हुआ जानकर पादरीगण उत्तेजित हैं। यही दशा शैवों तथा हिन्दुओं की भी है। आपके गुणों पर मुग्ध जनता इस आक्रमण के कारण क्षुब्ध है। उधर माननीय श्रीनिवासन ने कम्पनी के बड़े साहब से साक्षात्कार किया था ; उन्होंने भी आक्रमणकारी के सन्धान के लिये हर सम्भव प्रयत्न करने का आदेश दिया है। सारे शहर के नागरिक उस शबर-भिखारिणी को खोज रहे हैं।'

असहाय, किन्तु कटु स्वर में रंगनाथन बोले, 'क्या इसीलिये मुझे गृह-बन्दी होकर रहना होगा ?'

'नहीं, नहीं। हम आपके सेवक हैं, आपकी रक्षा करने के लिये ही आये

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हैं, आपके कल्याण के लिये ही।'

'मुझे बड़ी अस्वस्ति का बोध होता है। मेरा हृदय कहता है कि मेरा शत्रु कोई नहीं है, मैं किसी का शत्रु नहीं हूँ। मेरी रक्षा करने की क्षमता एकमात्र मेरे देवता प्रभु वरदराज में है। वही मेरी रक्षा करते हैं।'

जाने कैसी एक ध्वनि सुनाई दी! बात करते हुए भी रंगनाथन का ध्यान उधर ही है। लह्मा प्रायः संज्ञा-शून्य होकर पड़ी है। अपने ऊपर इस समय उसका कोई नियंत्रण नहीं है, न उसे इन लोगों की उपस्थिति का ज्ञान ही है।

कोतवाली के कर्मचारी ने कहा, 'कई बातें ऐसी भी हैं, जिनका ज्ञान आचार्य को नहीं है।'

तमककर रंगनाथन दृढ़ कण्ठ से बोले, 'सब बातों का ज्ञान किसी को भी नहीं होता, भाई। अस्तु, अब मेरा अनुरोध मानकर आप किसी वृक्ष की छाया में विश्राम कीजिये। मेरा पूजा का समय हो आया है। मैं अब पूजा करूँगा। इस समय—'

'अवश्य, अवश्य। हमलोग जा रहे हैं, आचार्य।'

बरामदे से उतरकर वे एक लता-मण्डप की छाया में जा बैठे।

रंगनाथन ने छोटे कक्ष का प्रथम द्वार खोलकर भण्डार में प्रवेश किया, फिर पूजा-गृह में। संज्ञा-शून्य लह्मा लता-सी पसरी पड़ी है। मुख पर अभी भी पीड़ा के चिह्न हैं। उसका एक हाथ पूजा के उपकरणों पर जा पड़ा है। एक छोटे-से धूपाधार में धूप-शलाका जल रही थी—वह धूपाधार गिर गया था। उसी का वह शब्द हुआ होगा। हाथ के चाप से शलाका भी बुझ गई थी। श्वास-प्रश्वास में भी बीच-बीच में एक मृदु, कातर स्वर निकल आता है।

रंगनाथन ने नाड़ी-परीक्षा की। नाड़ी दुर्बल है, पर आशंका की कोई बात नहीं है। थोड़ा-सा दूध पिलाने से शायद लाभ हो। भोग का दूध पड़ा है। रंगनाथन की पूजा में आडम्बर नहीं होता। थोड़े-से फूल-चन्दन, धूप-दीप, दुग्ध-शर्करा, और नारिकेल-कदली आदि का भोग। प्रातः की पूजा हो चुकी है। मध्याह्न की पूजा की सामग्री सजाकर ही उन्होंने सहानुभूति-ज्ञापनकारियों से भेंट की थी। अब मध्याह्न की पूजा कैसे होगी? और भोग लगाये बिना लह्मा को दूध कैसे पिला दें?

लह्मा ने मुँह खोल रखा है, शायद जल माँग रही है। एक बार नेत्र भी खोले थे। नेत्र रक्त-वर्ण हो उठे हैं, पुतलियाँ चमक रही हैं।

उन्होंने मृदु स्वर में पुकारा, 'लह्मा!'

लह्मा ने कोई उत्तर नहीं दिया, केवल मुख और खोल दिया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रंगनाथन ने कुशी में देवता का चरणोदक लेकर उसके मुख में ढाल दिया।

उसने फिर मुख खोला—और—और ! फिर आरक्त नयन खोलकर भ्रान्त-सी दृष्टि से देखकर बोली, 'आह !' फिर बोली, 'सारे शरीर में बड़ी जलन हो रही है।'

कहकर ही उसने फिर नेत्र मूँद लिये। रंगनाथन कुछ क्षण तक विचार-मग्न रहे, फिर संकल्प स्थिर कर लिया। पूजा-सामग्री पहले स्थान से कुछ हटाकर फिर सजा ली। पूजा करने बैठे, और हाथ जोड़कर बोले, 'वरदराज ! करुणामय ! यदि अपराध हो, तो दण्ड मुझे देना। तुम्हारी परम भक्त इस बालिका की प्राण-रक्षा के हेतु तुम्हारी पूजा संक्षेप में ही करूँगा और तुम्हारा प्रसाद देकर उसे स्वस्थ करूँगा।'

लल्ला फिर अस्फुट स्वर में बोली, 'बड़ा दाह है, बड़ी जलन है !'

रंगनाथन ने एक पल कुछ विचार किया, फिर उठकर भण्डार-गृह के कोने में रखी माटी की कलसी से एक भृङ्गार में जल भर लाये। आचमन आदि प्राथमिक कृत्य करके, उच्च स्वर से मन्त्रोच्चार करते हुए, देवता के मस्तक पर कुश से जल छिड़का, फिर भृङ्गार उठाकर लल्ला के सिरहाने आ बैठे, और उसी उच्च स्वर से मन्त्रपाठ करते हुए उसका सर्वाङ्ग जल-धारा से अभिषिक्त कर दिया—

आत्रेयी भारती गंगा यमुना च सरस्वती।
सरयूर्गण्डकी पुण्या श्वेत गंगा च कौशिकी॥

भोगवती च पाताले स्वर्गे मन्दाकिनी तथा।
सर्व्वा सुमनसो भृत्वा भृङ्गारैः स्नापयन्तु ताः॥

सिन्धु-भैरव-शोनाद्या ये ह्रदा भुवि संस्थिता।
सर्वे सुमनसो भृत्वा भृङ्गारैः स्नापयन्तु ते॥

लवणेक्षु—सुरा सर्पिर्द्दधि दुग्ध जलात्मकाः।
सन्तैस्ते सागराः सर्वे भृङ्गारैः स्नापयन्तु ते॥

जल-सिंचन की स्निग्धता से लल्ला की देह शीतल हो गई। उसने फिर नेत्र खोलकर देखा, और मृदु स्वर में बोली, 'और—आह !'

फिर एक भृङ्गार जल लाकर, देवता का चरण-स्पर्श करवाकर उन्होंने मन्त्रोच्चार-सहित उसे स्नान करवा दिया। उसकी देह की धूलि-धूसरता विलीन हो गई, साथ ही कुछ शुष्कता भी। उसने फिर मृदु स्वर में कहा, 'आऽऽऽह !'

अब रंगनाथन ने पूजा समाप्त की। लल्ला का शारीरिक स्पर्श न होने पर भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसके अस्तित्व के स्पर्श को अनुभव कर रहे थे वे। फिर भी स्वयं को अशुचि नहीं माना उन्होंने। पूजा समाप्त करके, भोग निवेदित करके, वे दूध लेकर फिर लक्ष्मा के सिरहाने आ बैठे। मृदु स्वर में पुकारा, 'लक्ष्मा !'

'हँ ?' लक्ष्मा ने नयन खोलकर देखा, फिर उन्हें देखकर वह कृतज्ञतापूर्ण स्मित के साथ बोली, 'प्रभु !'

'लो, यह दूध पियो। मुँह खोलो, मैं ढाल देता हूँ। मुँह खोलो !'

पर लक्ष्मा हाथ का सहारा लेकर उठने की चेष्टा करने लगी। कुछ ऊपर उठते ही वह भय से अस्फुट आर्त्त-नाद कर उठी। उन्होंने एक हाथ से उसका मुख दबाकर कहा, 'चुप, लक्ष्मा ! बाहर कोतवाली के सैनिक—'

थर-थर काँप रही थी लक्ष्मा। फुसफुसाकर बोली, 'मैं शबर-कन्या··· पूजा-गृह में—'

'चुप ! यहाँ लाने के सिवाय कोई उपाय नहीं था। देवता इससे रुष्ट नहीं हुए हैं, उन्होंने ही तुम्हारी रक्षा की है। मैं कह रहा हूँ। लो, दूध पियो। उन सैनिकों को कितने ही अर्द्ध-सत्यों से पथ-भ्रान्त कर वृक्ष की छाया में बैठा आया हूँ। तुम शान्ति से सो जाओ, कोई भय नहीं है। कुछ समय में ही स्वस्थ हो उठोगी। बस, कोई शब्द न करना।'

बाहर निकलकर रंगनाथन ने द्वार बन्द कर दिया। लक्ष्मा वरदराज की मूर्त्ति के आगे करबद्ध बैठी रही, पर कुछ देर में ही क्लान्त होकर निद्रा-मग्न हो गई।

बाहर आकर रंगनाथन ने देखा, समुद्र की आर्द्र-शीतल वायु के प्रभाव से दोनों प्रहरी वृक्ष के तले गंभीर निद्रा में मग्न हैं। वे उस ओर के बरामदे में रसोई बनाने बैठे।

आश्रम में वे अकेले ही रहते हैं। आज तक उन्हें किसी शत्रु का भय नहीं हुआ है। रमणीहीन, सम्पत्तिहीन गृह—भय होगा, तो किसके लिये ? दो दुग्धवती गायें हैं, पर उनके चोरी जाने का भी भय नहीं था। स्वयं भी स्वस्थ-सबल देह-सम्पन्न युवक हैं, बाल्य-काल से ही परिश्रम के अभ्यस्त। वैष्णव-गुरु, और संगीत-गुरु, दोनों के ही यहाँ श्रमसाध्य कार्यों में सहायता किया करते थे। कुल्हाड़ी से काठ चीरना, और उद्यान-कर्म उनके प्रिय कार्य थे। कुएँ से जल भी वही भरते थे। यहाँ, अपने आश्रम में भी समयानुसार सभी कार्य कर लेते हैं। वृद्ध परिचारक कुडुमुनि का कार्य-भार हल्का कर देते हैं। कुडुमुनि निकटस्थ ग्राम का ही वासी है। रात्रि को चला जाता है, प्रातः आ जाता है। गायों की परिचर्या वही करता है। शहर से यथा-प्रयोजन सामग्री लाने का भार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

भी उसी पर है। रंगनाथन जब गायन के निमन्त्रण पर बाहर जाते हैं, वह यहीं सोता है। आज प्रातः ही उन्होंने उसे तिरुअल्लिकेनी पार्थसारथी के मन्दिर में भेजा है। आज पूर्णिमा को वहाँ उनके गायन का कार्य-क्रम था। दुर्घटना का संवाद भेजकर क्षमा चाही थी रंगनाथन ने। संवाद कैसे भी उन लोगों को मिल ही गया होगा, पर अपनी ओर से सूचित करना रंगनाथन का कर्त्तव्य था। उनके संगी यन्त्र-वादक, कल की रात्रि यहीं व्यतीत करके आज प्रातः अपने-अपने स्थान पर लौट गये हैं। निरीह यन्त्र-शिल्पी—भयभीत भी हो उठे थे। सभी यहीं आस-पास के गाँवों के ही निवासी थे। कुडुमुनि को भेजे बिना कोई चारा न था।

स्वस्ति का निःश्वास छोड़ा रंगनाथन ने। आज भाग्य से ही वृद्ध यहाँ नहीं था। नहीं तो उसकी दृष्टि से बचकर बेचारी लल्ला उस पुआल में नहीं छिप सकती थी। कोतवाली जाने पर उसके अपमान की सीमा न रहती। उसकी तुलना में वृश्चिक-दंश की ज्वाला फिर भी अधिक काम्य है।

वरदराज ने उसकी रक्षा की है, उन्हीं के चरणों में वे उसे सौंप आये हैं। वे फिर बोले—इस बार स्फुट कण्ठ से, 'हे वरदराज! तुम पतितों के भगवान हो। आज तुम्हारे चरणों में आश्रय लेना यदि उसका अपराध हुआ हो, तो वह अपराध मेरा है, उसका नहीं। दण्ड देना ही हो, तो मुझे देना। तुम अन्तर्यामी हो। तुम पर उसकी कैसी अगाध भक्ति है! उसकी रक्षा करना, प्रभु!'

० ०

वरदराज स्वामी—पतितों के नाथ! विपन्नों के रक्षक! अनन्त करुणा के आधार! रंगनाथन को उपलब्धि मिथ्या नहीं है। उन्होंने सत्य की उपलब्धि करके ही गान की रचना की थी—

'वैकुण्ठ में जिनका निवास है, वही शबरपल्ली में पतितों के मध्य भी वास करते हैं। जो भवानी-पति कैलाशवासी हैं, वही इन अछूतों के मध्य भी रहते हैं। उनके कृष्णवर्ण से यदि तुम्हें घृणा होती हो, उनके निवास-स्थान की वीभत्स मलिनता या कटु गन्ध के कारण यदि उनके निकट जाने में तुम्हें द्विधा का बोध हो, तो तुम प्रभु को कभी भी नहीं पहचान पाओगे। ब्राह्मण-तनय, तुम ब्रह्माभिलाषी हो। क्रोध, घृणा और अहंकार के कारण तुम अपनी शिक्षा की अवधि में उन्हें नहीं पा सके। मैं नारी हूँ, और अपने धर्म पर अचल हूँ। मेरे पति मेरे आराध्य ही नहीं, प्रियतम भी हैं। उनकी सेवा मेरा धर्म ही नहीं, परम धर्म है। इसी धर्म के एकनिष्ठ पालन से मुझे जो आनन्द मिलता है, उसमें और ब्रह्मानन्द में कोई अन्तर नहीं है। इसी धर्म का पालन करने के कारण तुम मुझ पर क्रुद्ध हुए, परन्तु इस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

क्रोध से मेरी बिन्दु-मात्र भी क्षति न होगी। अतएव, तुम्हें परम सत्य, परम तत्व का ज्ञान व्याघ-पल्ली में धर्मराधन करते धर्म-व्याध से ही प्राप्त होगा। घृणा मत करना; गन्ध से व्याकुल होकर नासिका कुंचित कर द्वार पर ही मत रुक जाना; भीतर प्रवेश करना। तुम्हें पता है, तपस्या-रत अर्जुन को भवानी-पति महारुद्र ने किरात-वेश में ही दर्शन दिया था? अर्जुन ने उन्हें किरात मानकर अवज्ञा की थी, घृणा की थी, किन्तु किरात-रूपी भगवान ने उसके वक्षस्थल पर मुष्टि का आघात करके उसकी शक्ति का अभिमान चूर-चूर कर दिया था। उसकी घृणा का उपहास किया था इष्टदेव को समर्पित उसकी माला को अपने कण्ठ में धारण करके। हिमगिरि की कंचनजंघा की स्वर्णच्छटा से प्रतिभासित स्वर्णकान्ति महादेव जब किरात वेश धारणकर नीलगिरि पर आये, तब उन्होंने सुनील समुद्र का अवगाहन करके निविड़ नीलकान्ति रूप धारण किया।'

वरदराज की करुणा अपार है। रंगनाथनं की उपलब्धि सच्ची है।

अपराह्न तक लह्मा स्वस्थ हो उठी थी। बहुत रोई थी। बोली थी, 'अब और नहीं, प्रभु। अब मैं स्वस्थ हूँ, चेतन हूँ। चेतना-हीन, व्याधि-ग्रस्त अवस्था में इस पूजा-मन्दिर पर मेरा जो अधिकार था, वह अब नहीं है। अपने अपराध की मुझे कोई चिन्ता नहीं है प्रभु, राज-प्रतिनिधि के दण्ड और अपमान का भी मुझे कोई भय नहीं है। मुझे बाहर निकालकर प्रहरियों को सौंप दीजिये, प्रभु—'

रंगनाथन ने कहा, 'ना।'

'मेरे कारण वरदराज आप पर रुष्ट होंगे। आपकी तपस्या—'

बीच में ही रोककर रंगनाथन बोले, 'मेरी तपस्या इसी से पूर्ण होगी, कल्याणी। तुम लह्मा नहीं हो, कलावन्ती भी नहीं, कल्याणी हो। तुम यहीं रहो—देवता की महिमा-सी। मिथ्या नहीं कहता कल्याणी, आज अपने पूजा-गृह में मैंने वरदराज की करुणाधन्य महिमा के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं। पर अब अधिक बातें न करो। उन लोगों को अभी भी सन्देह नहीं हुआ है। अब कहीं न हो जाये। यह प्रभु का प्रसाद है—दुग्ध, शर्करा, कदली। यह खाओ। तुम अभी दुर्बल हो, तुम्हें बल की आवश्यकता है।'

'किन्तु इस तरह कितने दिन रखेंगे, प्रभु?'

'इन्हीं से पूछो।'

'पर यदि उन लोगों को मेरी उपस्थिति का पता चल गया, तो आपको कितनी लांछना उठानी पड़ेगी! नहीं, प्रभु—'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'चुप !' फिर स्मित हास्य से बोले, 'उसी लांछना से मेरी तपस्या पूर्ण होगी, लक्ष्मा।'

कितना संगीतमय शब्द है—लक्ष्मा ! तभी तो 'कल्याणी' के बदले यही निकल आया मुख से। रंगनाथन बाहर आकर वीणा के साथ गा रहे थे। सर्वप्रथम संगीत की अधिष्ठात्री देवी की, दक्षिण भारत में बहु-प्रचलित स्तुति का गान किया—

कलादेवते शरणम्—
वन्दे मधुर चरणम्—
वन्दे मधुर संगीत देवते कला देवते शरणम् !

सत्य सुर सुरूपिणी
समस्त के दुखहारिणी
आनन्द मृदुवाहिनी
आनन्द भैरव मोहिनी
तालमेल सम्मिलित नाशित
रागरंगिणी हृदयहासिनी
मेघ मधुरिम मंगल वदनम्
मोह दरदी
जीव जीवनी जीव जीवनी
कला देवते—
कला देवते शरणम् !

दोनों प्रहरी विभोर होकर सुन रहे थे। कुडुमुनि भी घर जाते-जाते रुक गया। पार्थसारथी के मन्दिर से वह कुछ समय पूर्व ही लौटा है। वयस से वृद्ध ठहरा, और फिर कुछ पेटू भी है। प्रसाद पाकर मध्याह्न को वहीं विश्राम किया था। और फिर नदी भी पार करनी पड़ी थी। समुद्र के निकट आकर नदियों का विस्तार विपुल हो जाता है, प्रवाह की गति भी तीव्र हो जाती है। नौकाओं से पार होकर आने में सहज ही एक वेला व्यतीत हो जाती है। अडियार नदी पार करने में उसे विलम्ब हो गया था। तभी, लौटते ही वह घर जाने को अधीर हो उठा था। उसे तथा दोनों प्रहरियों को भोजन देकर ही रंगनाथन वीणा लेकर बैठे थे। संगीत में वे तन्मय हो गये थे, नयनों से जल बह रहा था। दोनों प्रहरी भी रह-रहकर नेत्र पोंछ रहे थे, और कुडुमुनि तो फफक-फफककर रो उठा था। उन्हें स्पष्ट अनुभव हुआ था, पूजा-घर में लेटी हुई लक्ष्मा भी रोई थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होने पर, वीणा रखकर वे अपनी शय्या पर लेट गये। पर सो नहीं सके। भीतर लह्ला की आहट सुनने के लिये कान सतर्क थे। लह्ला क्या सो गई? लेकिन दीर्घ श्वास-प्रश्वास का स्वर तो नहीं उठ रहा है?

कुछ पलों में ही दोनों प्रहरियों का मृदु नासारव सुनाई देने लगा था। कुडुमुनि का नासा-गर्जन और भी प्रबल था। लह्ला क्या अब भी जाग रही है? कहाँ, उसका श्वास-प्रश्वास तो गहराया नहीं! उठकर उसे देखने जाने का साहस भी नहीं हुआ। क्या जाने कब कौन जाग उठे! सन्ध्या को भोग तथा आरती के बाद देवता का शयन होता है, फिर प्रभात तक वह द्वार नहीं खोला जाता। आज द्वार पर ताला उन्होंने इसीलिये नहीं लगाया। कहीं खोलना पड़े, तो आहट से और लोग न जाग उठें। ऐसे ही अटकाया हुआ द्वार। फिर भी यदि कोई आहट हो ही जाये! रात्रि के समय दोनों प्रहरियों को वृक्ष के आश्रय में नहीं भेज सके थे। बरामदे में ही सोये हैं दोनों।

इसी बीच उन्हें भी एक बार तन्द्रा-सी आ गई थी। अचानक पाँवों पर स्पर्श का आभास पाकर जाग उठे। नेत्र खोलकर जो देखा, उससे वे स्तम्भित, पाषाणवत् हो गये। लह्ला उनके चरण-स्पर्श कर प्रणाम कर रही थी। भीतरी-कक्ष से निकल आई है वह। एक चीत्कार उठकर उनके कण्ठ में ही दबकर रह गयी। मानो किसी ने गला दबा दिया हो। पर लह्ला रुकी नहीं, कुछ बोली भी नहीं। प्रणाम करके ही हल्के पगों से बाहर की ओर जाने लगी। कक्ष के बरामदे में खुलनेवाले द्वार में पल भर रुकी।

बाहर पूर्णिमा की परिपूर्ण ज्योत्स्ना छायी थी। सारी प्रकृति मानो क्षीर-सागर की अमल-धवल स्वच्छता में स्नात होकर शुभ्र हो उठी थी। अदूरवर्त्ती समुद्र में भी पूर्णिमा का ज्वार आया था। तरंगों के आघात से कल्लोल-ध्वनि उठ रही थी। लह्ला सम्भवत: बरामदे में सोये तीन व्यक्तियों को देखकर ही पल-भर के लिये ठिठक गई थी। फिर उनके पास के टेढ़े-मेढ़े खाली स्थान से होकर वह शीघ्रतापूर्वक बरामदे से उतर गई। ज्योत्स्ना-भरे उद्यान में रंगनाथन उसे स्पष्ट देख पा रहे थे। द्रुत पगों से वह आश्रम के फाटक के पास जा खड़ी हुई, वह भी पल भर के लिये ही, फिर निकलकर दृष्टि से ओझल हो गई।

अब जाकर उनकी स्तम्भित चेतना मानो तड़िताहत होकर लौटी। वे पुकारने को हुए—लह्ला! पर फिर अपने को संयत कर लिया और उठकर कक्ष से निकल आये।

कैसी गहन रजनी है! इस रात में एकाकिनी किशोरी लह्ला कहाँ जायेगी? मत्स्य-न्याय का युग है। सारे देश की शासन-व्यवस्था छिन्न-विच्छिन्न हुई

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पड़ी है। ग्राम-ग्राम में लम्पट चोर-डाकुओं के दल घूम रहे हैं। शहर में भी कम्पनी के गोरे और तैलंग सैनिक मद्य-पान करके समुद्र-तट पर हुल्लड़ मचाते रहते हैं। धनियों के उद्यान-भवनों में, मत्त कण्ठ के स्खलित वाक्यों के संग बेताल-छन्द नूपुर-ध्वनि से नटराज का अपमान होता रहता है। भगवान की इस पृथ्वी पर ही भगवान का निरादर होता है। इस रात में वह जायेगी कहाँ ? और ऊपर से आज दिन-भर वह वृश्चिक-विष से अवसन्न पड़ी रही है—मृत्यु-यन्त्रणा जैसा कष्ट भोगा है। कितनी दूर जा सकेगी भला वह ?

शीघ्रता से वे भी आश्रम से निकल आये। कहाँ है, किधर है लल्ला ?

ज्योत्स्ना-प्लावित पृथ्वी पर केवल वृक्षों के तले ही कुछ अँधेरा था। उन्होंने लल्ला के ग्राम की ओर जानेवाले पथ को देखा। कहाँ ? बालुकामय पथ कौमुदी में झिलमिला रहा था। जनशून्य पथ। मद्रास की ओर जानेवाले पथ को देखा। वह भी सूना था। दूर, शहर के दो पक्के मकान दिखाई दे रहे हैं। प्रकाश हो रहा है उनमें। दूर से कुत्तों के भौंकने का स्वर तैरता हुआ आ रहा है। पर लल्ला कहाँ है ? यहाँ तो नहीं है। पूर्व की ओर समुद्र की बेला-भूमि है। क्या उसी ओर गई है ? बेला-भूमि की ओर दौड़ गये वे।

कुछ दूर जाकर ऊँची बालूमय भूमि क्रमशः निम्न हो आई है। वहीं नारिकेल-सुपारी वृक्षों की पाँत है। पूर्णिमा का चन्द्रमा मध्य-गगन में है, इसीलिये वृक्षों की सघन छाया जड़ के आस-पास ही एकत्रित है। बीच-बीच में पत्तों की फाँक से कोई किरण ज्योत्स्ना के वाण-सी आकर इस अन्धकार को बेध देती है। वायु की ताड़ना से पत्ते आन्दोलित हो रहे हैं। हाँ, वहीं तो। वहीं तो ये चंचल ज्योत्स्ना-खण्ड रह-रहकर किसी मनुष्य-मूर्त्ति के सिर पर, कन्धों पर, पाँवों पर पड़ रहे हैं। उस धुँधली आभा में एक छाया-मूर्त्ति-सी दिखाई दे रही है। वह जा रही है लल्ला, उस वृक्ष-पंक्ति से सटी-सटी। छाया में छिपकर चलना चाहती है।

वे फिर एक बार पुकारते-पुकारते रुक गये। प्रहरीगण जाग उठेंगे। वे स्वयं ही दौड़ चले। आकर वृक्षों की पंक्ति के तले खड़े हो गये। सामने समुद्र पूर्णिमा के उत्ताल ज्वार से उच्छ्वसित हो रहा है। बड़ी-बड़ी तरंगें पछाड़ खा-खाकर इन वृक्षों के तल-देश तक आ पहुँचती हैं। उनके पाँव भींग गये थे।

वहाँ—वह जा रही है लल्ला ! उस खण्ड-खण्ड आलोक में रहस्यमयी मूर्त्ति-सी दिखाई दे रही है।

वे फिर दक्षिण की ओर दौड़े। उसी ओर लल्ला जा रही है—सम्भवतः महाबलिपुरम् को।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

कुछ दूर जाकर वे रुक गये। कितनी दूर है लज्ञा ! लज्ञा, मत जाओ ; राह बड़ी लम्बी है। तुम दुर्बल हो, युवती हो। यह गहन रात्रि। रुको, लज्ञा। पर कहाँ ? अब तो नहीं दिखाई देती।

दबे-दबे-से उच्च स्वर में उन्होंने पुकारा, 'लज्ञा !'

समुद्र के कलरव में उनका स्वर दब गया। एक और तरंग ने आकर उनके पाँव भिगो दिये। वे फिर अग्रसर हुए। पुकारा, 'लज्ञा !'

अब जाकर दिखाई दी। नारिकेल पंक्ति की छाया में ज्योत्स्ना की एक किरण अचानक ही उस पर पड़ गई। एक वृक्ष के तने का सहारा लेकर बैठी है लज्ञा। चाँदनी में उसके वस्त्रों की झलक दिखाई दे रही है। वह बैठी है···क्लान्ति के मारे बैठने को बाध्य हुई है। थकान से ढलकी पड़ रही है।

तीव्र गति से वे आगे बढ़ गये। हाँ, लज्ञा नारियल की जड़ के पास लेट गई है। कुछ ठिठककर उन्होंने धीरे-से पुकारा, 'लज्ञा !'

चौंक उठी लज्ञा, 'कौन ?'

'भय नहीं है, लज्ञा ; मैं हूँ।'

'प्रभु, आप ?' वह फिर स्थिर हो गई। एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोली, 'सोचा था, चल सकूँगी, पर चला नहीं जाता। बड़ी दुर्बलता का अनुभव हो रहा है।'

'चली क्यों आई लज्ञा ? छिः, छिः, छिः !'

रंगनाथन उसके सिरहाने बैठ गये, सिर उठाकर अपनी गोद में रख लिया, और बोले, 'तुम चली आई ! मैं उन लोगों के जागने के भय से तुमसे कुछ कह भी नहीं सका।'

फिर उसके ललाट पर हाथ फेरकर बोले, 'तुम्हारी नाड़ी तो देखूँ जरा।'

नाड़ी देखकर बोले, 'दुर्बल है अभी। इस दुर्बल अवस्था में क्या कर बैठी, बोलो तो ?'

लज्ञा शान्त-शिष्ट बालिका की भाँति चुपचाप पड़ी रही।

रंगनाथन सोचने लगे, क्या करें इसे लेकर ! महाबलिपुरम् बहुत दूर है। मद्रास और इसका अपना ग्राम इसके लिये बन्धन और निर्वासन का दण्ड लिये बैठे हैं। ज्योत्स्ना का एक बड़ा-सा टुकड़ा उन लोगों पर आकर फैल गया। उन्होंने देखा, लज्ञा एकटक उन्हीं की ओर देख रही है। उनकी दृष्टि भी उसके मुख पर निबद्ध हो गई। लज्ञा के केश बहुत घने हैं, और साथ ही घुँघराले भी। नेत्र दोनों आयत्त हैं—प्रशान्त, और प्रसन्न। सीपियों की-सी नीलाभ शुभ्र आभावाले अपांगों में काले मोतियों-सी पुतलियाँ चमक रही हैं। चाँदनी उनमें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

प्रतिबिम्बित होकर बिखर रही है।

लल्ला उनकी दृष्टि के प्रति मानो सचेत हो उठी। उसने नेत्र मूँद लिये। रंगनाथन ने पुकारा, 'लल्ला !'

'प्रभु !'

'क्या सोच रही थी, लल्ला ?'

यह नहीं पूछ सके, कि मेरी ओर देखकर क्या पाया लल्ला ?

उनका कण्ठ भर आया था। एक ताप उन्हें उत्तप्त किये जा रहा था। एक मादकता-सी छाई जा रही थी उन पर। देह-शिराओं के रक्त-प्रवाह में, मस्तिष्क के स्नायुओं में एक उष्णता-सी भर गई थी। समस्त चित्त को आच्छन्न करती हुई एक तीव्र धारा-सी बही जा रही थी। मुदित-चक्षु लल्ला के ललाट पर ज्योत्स्ना चमक रही थी। ललाट पर हाथ फेरकर फिर पुकारा, 'लल्ला !'

लल्ला का ललाट शीतल था। नेत्र मूँदे-मूँदे ही क्षीण-सी मुस्कान के साथ उसने उत्तर दिया, 'सोच रही थी, आप ही मेरे लिये साक्षात् वरदराज-स्वामी हैं।'

आवेश से आच्छन्न हो गये रंगनाथन। गम्भीर स्नेह से मुख नत करके अचानक रुक गये।

अपने मुख पर उनके उष्ण निःश्वास का स्पर्श पाकर लल्ला ने आँखें खोलीं। विस्फारित नेत्रों से देखकर बोली, 'प्रभु !'

रंगनाथन ने कोई उत्तर नहीं दिया, विरत भी नहीं हुए। उसके ललाट पर एक चुम्बन देकर बोले, 'यह तुम्हारे वरदराज का आशीर्वाद है।'

क्रन्दन से आकुल हो उठी लल्ला—एक वाक्यहीन रुदन !

रंगनाथन ने उसका कंधा पकड़कर खींचा, 'उठो ! उठ सकोगी ?'

मंत्रमुग्ध-सी लल्ला उठी। रंगनाथन बोले, 'मेरा सहारा ले लो। चला न जाता हो, तो उठाकर ले चलूँ, क्यों ?'

'कहाँ, प्रभु ?'

'क्यों ? मेरे घर।'

'प्रभु !'

'कोई भय नहीं है, लल्ला।'

'प्रभु, प्रहरी—'

'कोई भय नहीं है। तुम्हें ले जाने नहीं दूँगा उन लोगों को। तुम चिन्तित मत होओ।'

'आप पर विपत्ति आ जायेगी। नहीं, नहीं…'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'नहीं ।'

'यह आप क्या कह रहे हैं ? कैसे बचायेंगे मुझे, प्रभु ? एक भिखारिणी शबर-कन्या के लिये आप जाति-च्युत होंगे ?'

'जाति-च्युत ! नहीं ।'

स्थिर, निष्पलक दृष्टि से उसकी ओर देखकर रंगनाथन बोले, 'नहीं । फिर भी तुम्हें छोड़ूँगा नहीं ।'

एक बार फिर उच्च कण्ठ से बोले, 'ना ! तुम्हें कभी भी नहीं छोड़ूँगा । ना !'

दृष्टि उनकी उन्मादिनी-सी हो आई थी । सारी देह काँप रही थी—हाथों में अग्नि का उत्ताप ।

शंकित कण्ठ से लल्ला बोली, 'प्रभु !'

रंगनाथन बोले, 'डरो मत । मुझसे घृणा न करना, लल्ला । आवश्यकता हुई, तो तुम्हारे लिये जाति-च्युत भी हो जाऊँगा । मैं शबर बन जाऊँगा, पर तुम्हें नहीं छोड़ सकूँगा ।'

लल्ला को अपने सबल वक्षस्थल में समेट लिया रंगनाथन ने । यौवन की जिस नित्यलीला के प्रभाव से शीतकाल के अन्त में अकस्मात् ही पवन की गति परिवर्त्तित हो जाती है, सूर्य के स्पर्श से नवीन ताप का संचार होता है, पृथ्वी के रन्ध्र-रन्ध्र में कामना जाग उठती है ; उसी ताप की कामना के आगे रंगनाथन के सारे संकल्प बह गये ।

लल्ला के अधरों पर अपने अधर रखकर मूक कर दिया उसे, स्वयं भी मौन हो गये । कुछ पल बाद उसे छोड़कर बोले, 'कामना के आगे मैं पराजित हुआ हूँ, उसे अंगीकार किया है, पर मैं कामार्त्त पशु नहीं हूँ, लल्ला । मैं तुमसे विवाह करूँगा ।'

अपने कण्ठ से तुलसी की माला उतारकर उसे पहना दी और बोले, 'समुद्र की साक्षी में तुम्हें वरण किया मैंने । प्रयोजन हुआ, तो जाति-च्युत भी हो जाऊँगा । मैं जानता हूँ, समाज मुझे जाति-च्युत कर दे, तो भी वरदराज मेरा त्याग नहीं करेंगे । हम दोनों दूर कहीं एकान्त में चले जायेंगे । तुम शबरी नहीं, ब्राह्मणी होगी ।'

लल्ला उनके चरणों में लोट गई, 'आप ही मेरे वरदराज हैं ।'

'तो फिर तुम लक्ष्मी हो ।'

उसे उठाकर फिर हृदय से लगा लिया । फिर कहा, 'चलो ।'

'नहीं ।' शान्त स्वर में लल्ला बोली, 'यहाँ बड़ा अच्छा लग रहा है । कितना सुन्दर चाँद है, कैसी मधुर ज्योत्स्ना ! समुद्र कितना मनोहारी लग रहा है !'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'तो ठीक है। यहीं बालू-भूमि पर ही हमारी वासर-शय्या सजेगी।'

स्नेहपूर्वक लल्ला को नारिकेल-कुंज के तले बैठाकर रंगनाथन भी पास ही बैठ गये।

एक उच्छ्वसित उत्ताल तरंग बेला-भूमि पर पछाड़ खाकर उनके पाँवों तक आकर लौट गई।

रंगनाथन बोले, 'आज पूर्णिमा है ना! समुद्र मतवाला हो उठा है।'

बालू-चर पर बिछी वासर-शय्या पर दोनों निद्राच्छन्न पड़े थे। नींद टूटी पक्षियों के कलरव से। झरे हुए आकाश-कुसुमों-सा श्वेत समुद्री पक्षियों का दल भोर की म्लान ज्योत्स्ना में दल बाँधकर चक्राकार उड़ रहा था। स्थलचारी विहंग भी वृक्षों के सिरों पर बैठे कलरव कर रहे थे। जो दो-एक शाखा-प्रशाखा विशिष्ट वृक्ष थे, उनके पत्र-पल्लवों में छिपे नन्हें-नन्हें पक्षी दल-बद्ध शिशुओं की भाँति प्रभाती की काकली में मुखर हो उठे थे। पूर्व का सीमाहीन सागर जहाँ आकाश से मिलता है, वहाँ एक दीर्घायित पाण्डुर रेखा जाग उठी है। उसी रेखा के मध्य में कुछ उत्तर की ओर पाण्डुरता मण्डलाकार में क्रमशः बढ़ती जा रही है। पूर्व के आकाश की ज्योत्स्ना म्लान होकर विवर्ण हो गई है। क्षितिज से कुछ ऊपर शुक्रतारा अपनी नीलाभ ज्योति में प्रकाशमान है।

इधर पश्चिम में अस्तमान पूर्णचन्द्र का वर्ण रक्ताभ-पाण्डुर हो आया है, फिर भी उसकी ज्योत्स्ना पश्चिमी दिगन्त में छाई हुई है। शाखा-प्रशाखाहीन नारिकेल वृक्षों के पश्चिमी भाग पर भी यह छिटकी है। पूर्वी भाग में समुद्र-गर्भ तक विस्तृत बेला-भूमि पर भी इसकी छाया-सी फैली है। इसी ज्योत्स्ना का एक टुकड़ा उस शबरी के मुख पर भी आ पड़ा है। निश्चिन्त निद्रा में मग्न है लल्ला!

पहले नींद टूटी रंगनाथन की। रात्रि शेष हो गई है। एक दण्ड के भीतर ही वह पीतवर्ण मण्डल रक्ताभ हो उठेगा। वह रक्तराग फिर समुद्र के एक बिन्दु को केन्द्र करके, उसकी परिधि में आनेवाले आकाश को रंजित कर देगा। फिर वह केन्द्र गहरा होता जायेगा और फिर जवाकुसुम की-सी छवि का सूर्य मानो समुद्र का वक्षस्थल चीरकर ही प्रकट होगा। इसके बाद एक छलाँग मारकर सूर्यदेव आकाश में जा सुशोभित होंगे और समुद्र के नील तरंग-शीर्ष रक्तराग की छटा से रंजित हो उठेंगे।

शबरी लल्ला अभी भी निद्रा-मग्न है। रंगनाथन ने उसके मुख की ओर देखा। अचानक स्वयं पर ही क्रोध आ गया उन्हें। भावावेग में वे कल यह क्या कर बैठे?

५

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

हे वरदराज, यह क्या किया ! कल इस विष-जर्जरा चेतनाहीना कन्या को तुम्हारे चरणों के आश्रय में सौंपते हुए कहा था—यदि अपराध हो, तो उस अपराध का दण्ड मुझे देना। दोष इसका नहीं, मेरा है ; तुमने मुझे मोह-ग्रस्त करके, तपस्या-च्युत करके, मेरे माध्यम से क्या इसी को दण्ड दिया है ? वे स्थिर हो गये—पाषाणवत् । दिन का आलोक जितना स्पष्ट होता जा रहा है, पृथ्वी जितनी प्रकाशित होती जा रही है, उतने ही वे मानो पंगु होते जा रहे हैं। यह क्या किया उन्होंने ! करुणा दिखलाने जाकर यह किस बन्धन में बाँध लिया अपने को ! लल्ला को पुकार भी नहीं पा रहे हैं वे। निद्रालस नयनों में, खुलते ही, समुद्र के वक्ष पर आविर्भूत रक्तिम सूर्य की भाँति, प्रेम की दीप्ति फूट पड़ेगी। उसका सम्पूर्ण मुख-मंडल कोमल अनुराग की छटा से अनुरंजित हो उठेगा। अधरों के कोनों पर सलज्ज हास्य खिल उठेगा। तब क्या करेंगे वे ?

लल्ला के गले में उनकी वैष्णव कंठी पड़ी है।

अचानक ही रंगनाथन वेत्राहत की भाँति अधीर हो उठे। लल्ला को एक बिच्छू ने डँसा था। उन्हें लगा, उन्हें सहस्रों बिच्छू डंक मार रहे हैं।

क्या करें वे ? लल्ला तो अभी भी उन्हें वृश्चिक की भाँति जकड़े हुए है। उसका एक हाथ अभी भी उनकी गोद में पड़ा हुआ है। आतंकित होकर ही मानो उन्होंने उस हाथ को उठाकर जोरों से भूमि पर पटक दिया।

उस आघात से लल्ला के नेत्र खुल गये। सद्यः मुकुलित नयनों में आघात के वेदना-बोध का नाम भी न था। था केवल प्रसन्न अनुराग। नींद के नशे में उसने उस आघात का पूर्ण रूप से अनुभव भी नहीं किया था, न अनुमान ही। करने का कोई कारण भी नहीं था।

नयन खोलकर स्मित हास्य के साथ वह बोली, 'प्रभु !' शायद वह समझी, रंगनाथन ने उसे पुकारा है।

रंगनाथन तब तक उठ खड़े हुए थे। 'प्रभु' कहकर पुकारने में लल्ला का प्रश्न छिपा था, 'क्या कह रहे हैं ?' पर रंगनाथन के पास कहने को कुछ भी नहीं था। पथिक के पास सोया चोर जिस प्रकार प्रभात होते ही साँस छोड़कर भागता है, उसी प्रकार वे भी एक साँस में दौड़कर वहाँ से चले गये।

लल्ला उठ खड़ी हुई। उसके विस्मय की सीमा न थी। इस प्रकार भागे क्यों ? प्रहरी !···चंचल हो उठी वह। पर अगले ही पल शान्त हो गई। याद आया, कल रंगनाथन ने उसे अपने घर ले जाना चाहा था। कहा था—किस बात का भय है ? तुम मेरी पत्नी हो। अपने घर में प्रवेश करोगी।

तो फिर ? तो फिर ?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उसे विश्वास नहीं हो रहा था। उसके कण्ठ में तो अभी भी उनकी पहनाई हुई वैष्णव-कण्ठी झूल रही है। तो फिर ?

पाषाण-मूर्ति-सी वह खड़ी रही। अब उसे प्रहरियों का भय नहीं है। ले जायें उसे पकड़कर। करें निर्वासित, करें लांछित।

सूर्य उदित होगा। एक मण्डलाकार रक्तानुरंजन धीरे-धीरे आकाश में व्याप्त हो रहा है। पक्षीगण दल बाँधकर दूर-दूर की उड़ानें भर रहे हैं। समुद्र पर नौकाएँ दिखाई देने लगी हैं। दूर उत्तर में मद्रास बन्दर में खड़े जहाजों के मस्तूल दिखाई दे रहे हैं। बड़ी-बड़ी नौकाएँ पाल तानकर निकल रही हैं। छोटी मछुआरी नौकाएँ भी समुद्र में दूर निकल गई हैं। जन-कोलाहल सुनाई देने लगा है। सूर्योदय हो रहा है।

पर वह कहाँ जाये ? दिन के प्रकाश में कैसे राह चले ? वह सब समझ गई है, अब कुछ भी दुर्बोध्य नहीं है। यही होता है। यही शायद नियम है।

सूर्य उदित हुआ। प्रकाश धूप बनकर खिल उठा। देह में ऊष्मा का स्पर्श हुआ। उस स्पर्श से वह चौंक उठी। जाना होगा—कहीं जाना होगा। दूर—कहीं बहुत दूर। भागना होगा उसे।

द्रुत पगों से वह नारिकेल-तल की घनी वीथिका के मध्य से दक्षिण की ओर चलने लगी।

प्रातः का ज्वार आ रहा है। बढ़ता हुआ जल उसके पद-चिह्न धोता चल रहा है।

रंगनाथन वेत्राहत-से दौड़े चले आ रहे थे।

प्रातः निद्रा खुलने पर उन्हें न पाकर दोनों प्रहरी उत्कण्ठित होकर उन्हें ढूँढ़ने निकले थे। उन्हें देखकर कुछ आश्वस्त हुए, पर उनकी दशा देखकर पूछ बैठे, 'क्या हुआ, आचार्य ? इतनी भोर कहाँ गये थे ? समुद्र-तट पर ?'

'आँ ? हाँ।' वे बोले।

और बोलकर ही, उन्हें छोड़कर उसी भाँति दौड़ते हुए कक्ष में जाकर अपनी शय्या पर लोट गये। देह का बालू झर गया शय्या पर, पर उसकी चुभन का उन्हें आभास तक न हुआ। मुँह छिपाये पड़े रहे।

यह कैसी मर्म-पीड़ा है ! यह क्या किया ! हे वरदराज ! यह कैसा दण्ड दिया तुमने !

फिर उठे। भण्डार-घर का द्वार खोलकर पूजा-गृह के द्वार पर जा खड़े हुए, पर भीतर प्रवेश न कर सके।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्नान करना होगा। वे बाहर निकल आये। कुडुमुनि तथा प्रहरियों से कहा, 'समुद्र में स्नान करने जा रहा हूँ।' पर मध्य पथ से ही लौट आये। जा नहीं सके। लल्ला—लल्ला अवश्य ही अब तक वहीं, नारिकेल-कुंज में पड़ी होगी। रो रही होगी। उन्हें देखते ही 'प्रभु' कहकर आगे बढ़ आयेगी। पैरों से लिपटकर रोने लगेगी।

लौट आये। बोले, 'नहीं, कुडुमुनि। बड़ी अस्वस्ति लग रही है। समुद्र-स्नान सह्य नहीं होगा।'

कूप से जल खींचकर स्नान कर, पूजा-गृह में प्रवेश किया। कोठरी अब भी लल्ला की उपस्थिति के चिह्नों से मलिन है। बड़े यत्न से उन्होंने सारे कक्ष को साफ किया और पूजा का आयोजन करके पूजा पर बैठे। पर पूजा हो नहीं सकी। नेत्र मूँदते ही लल्ला दिखाई देती थी। एक दिन में ही लल्ला ने मानो अपने को शत-शत रूपों में उनके हृदय में प्रतिष्ठित कर लिया था।

सजल नयन, म्लान-मुखी लल्ला क्लिष्ट श्यामलता-सी गोशाला का खूँटा थामे खड़ी है!···

लल्ला यन्त्रणा-कातर भयार्त्त मुख लिये पुआल के ढेर से निकल रही है!···

लल्ला वृश्चिक-विष से चेतनाहीन हुई ढुलकी पड़ी है!···

उनकी बाँहों पर लल्ला!···

वरदराज के आगे लल्ला को लिटाकर वे कह रहे हैं, 'तुम्हारे ही चरणों में इसे समर्पित करता हूँ, प्रभु!···'

तुम उसकी रक्षा नहीं कर सके, देवता!

हृदय को जैसे किसी ने मथ दिया। नेत्रों से जल की धार बह चली। अगले ही पल वे चौंक उठे। नेत्र खुलकर विस्फारित हो गये। मन में एक दूसरा ही प्रश्न जाग उठा। देवता ने तो उसे उन्हीं के हाथों में सौंप दिया था। देवता ने तो उसकी प्रतारणा नहीं की थी।

उफ्! लल्ला का वह मुख याद आ रहा है, वह दृष्टि याद आ रही है, जब अपने गले की माला उसके कण्ठ में पहनाते हुए कहा था, 'कामना मुझमें है, पर कामार्त्त पशु मैं नहीं हूँ। लल्ला, मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकूँगा। यह माला पहनकर समुद्र की साक्षी में तुम्हें वरण कर रहा हूँ—तुम मेरी पत्नी हो।'—उस समय का लल्ला का अपरूप, सुषमा-दीप्त, प्रसन्न, क्लान्त मुख नेत्रों के आगे घूम गया। पूजा की कोठरी में अभी लल्ला-देह की गन्ध बसी है।

लल्ला, लल्ला, लल्ला! अंतःकरण से लल्ला का आह्वान कर उठा उनका हृदय। लल्ला! लल्ला से उन्हें प्रेम है; उसे उन्होंने पत्नी-रूप में ग्रहण किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

वरदराज की जिस प्रेरणा से, जिस इंगित से उन्होंने उस गान की रचना की थी—कृष्णचर्म के अन्तराल में जो देवता वास करते हैं, वही निवास करते हैं वैकुण्ठ में; जिन देवता का निवास वैकुण्ठ में है, वही कृष्णचर्म के अन्तराल में वास करते हैं—उसी प्रेरणा के वशीभूत होकर उन्होंने लल्ला को ग्रहण किया था। हृदय की जिस निष्कपट, अकृत्रिम, छलनाहीन कामना के पुण्य से नारी पूर्णता प्राप्त करती है पुरुष में और पुरुष पूर्णता प्राप्त करता है नारी में, उसी अकृत्रिम, पवित्र कामना से कल उन्होंने उसे ग्रहण किया था। भूल—भूल की है उन्होंने भागकर। भूल! पाप का प्रायश्चित होता है। भूल का संशोधन हुए बिना जीवन की क्षति पूर्ण नहीं होगी।

हे वरदराज—यह किस मति-भ्रान्ति से तुमने मुझे छला?

क्यों? क्यों? क्यों ऐसी भ्रान्ति हुई उन्हें? कल इतना बड़ा आघात पाकर भी वे विचलित नहीं हुए थे, असत्य नहीं बोले थे। किसी के भी भय से उपलब्ध सत्य को असत्य करके नहीं कहा था। पर अपने जीवन के चरम सत्य को किस प्रकार वे क्षणिक भ्रान्ति के वश में, सागर-तट पर त्यागकर चोरों की भाँति भाग आये?

वे आसन से उठ गये। फिर बैठ गये। प्रणाम करके कहा, 'लल्ला को लौटा लाने जाता हूँ, प्रभु! लल्ला मेरे जीवन का चरम सत्य है। मैं उससे प्रेम करता हूँ। उसे मैं तुम्हारे प्रसाद-स्वरूप ग्रहण करूँगा।'

घर से निकलकर समुद्र-तट की ओर चले। प्रहरियों से कहा, 'समुद्र-तट पर जा रहा हूँ। तट के साथ-साथ मद्रास तक जाऊँगा। तुम लोग लौट जाओ।'

कुडुमुनि से कहा, 'घर खुला छोड़े जाता हूँ। मेरे लौटने तक राह देखना।'

सागर-तट पर आ खड़े हुए।

धूप में झिलमिला रहा है सागर-जल। धूप और धूप से उज्ज्वल सागर-जल की छटा से प्रदीप्त बेला-भूमि ऐसी लग रही है, मानो परम शुचिता से परिमार्जित, देवता का आँगन हो। नारियल-सुपारी के तलवार-से तीखे, दीर्घ पत्र चमक रहे हैं। उनके आन्दोलन की सरसराहट सुनाई दे रही है। समुद्र का अविराम अश्रान्त कल्लोल क्रन्दन-सा लगता है।

हाँ, इस समय उन्हें यह क्रन्दन-सा ही प्रतीत हो रहा है।

निर्जन तट पर लल्ला तो कहीं भी नहीं है।

वे उत्तर की ओर चलने लगे।

पहले जायेंगे लल्ला के ग्राम में। फिर मद्रास। मद्रास में मैलापुर जाकर पार्थसारथी के मन्दिर में देखेंगे। फिर महाबलिपुरम् और फिर कांजीवरम्। लल्ला

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

को ढूँढ़ निकाले बिना नहीं रहेंगे। उसके न मिलने से तो सारा जीवन ही मिथ्या हो जायेगा।

० ०

दिन का प्रथम प्रहर बीत रहा है। समुद्र नौकाओं से भर गया है। समुद्र की ओर देखते हुए ही चिन्तन करते जा रहे थे वे। एक विशाल यात्री-वाही नौका से कुछ लोगों ने हाथ ऊँचा करके नमस्कार किया। उन्हीं में एक गैरिक-धारिणी प्रौढ़ा भी थी। उन्होंने पहचाना। पुरी से लौटते हुए, पार्थसारथी के दर्शन के लिये मद्रास रुकी थी। उस रात इनका गायन सुनकर प्रौढ़ा ने आकर, हाथ थामकर कहा था, 'शतायु हो!' आज लौट रहे हैं ये लोग। राह में समुद्र-तट पर उन्हें देखकर पहचाना है, इसीलिये अभिवादन किया है।

पर विचार-मग्न रंगनाथन ने उन्हें मानो देखकर भी नहीं देखा। प्रत्यभिवादन किये बिना ही उत्तर की ओर चलते रहे। लल्ला! लल्ला! जोसेफ के ग्राम के प्रवेश-पथ पर नहीं ठिठके, पर उसके गृह-द्वार पर ठिठक गये।

ग्राम के अधिकांश पुरुष काम पर बाहर निकल गये हैं। स्त्रियाँ उन्हें देखकर विस्मित हुईं। उनकी राह से हटकर अपने-अपने घरों में घुस गईं, और चुपके-चुपके झाँककर देखने लगीं। उनके ग्राम में एक आचार्य ने प्रवेश किया है! उनकी मुखाकृतियों पर उत्तेजना जाग रही थी।

हे वरदराज! हे महेश्वर!

पर क्रिस्तान लोग घर में नहीं घुसे थे। वे बाहर ही, रास्ते के एक ओर खड़े रहे। जोसेफ का द्वार ज्यों-ज्यों समीप आ रहा था, रंगनाथन की दुर्बलता बढ़ती जा रही थी। अचानक ही वे मानो सम्पूर्ण रूप से परास्त होकर खड़े हो गये। उनके हृदय में आलोड़न हो रहा था। क्या कहेंगे वे? कैसे कहेंगे? कैसे कहेंगे कि कल रात्रि को समुद्र की साक्षी में लल्ला को—पर प्रश्न पूर्ण नहीं हुआ। एक क्रिस्तान युवक उत्तेजित, उद्धत भाव-भंगिमा के साथ पास की गली से दौड़ता हुआ आकर उनकी राह रोककर खड़ा हो गया। बद्ध-मुष्टि हो, गरजकर बोला, 'हमारी पल्ली में क्यों प्रवेश किया तुमने? क्या प्रयोजन है तुम्हारा? गोखुरे सर्प! किसे डँसने आये हो?'

नेत्र मूँद लिये रंगनाथन ने। मन-ही-मन वरदराज का स्मरण करके हृदय को दृढ़ करने की चेष्टा करने लगे। हृदय में जो अग्नि जल रही थी, ग्राम में प्रवेश करने के साथ ही उसकी शिखा क्रमशः मन्द पड़ने लगी थी। आवेग तथा संकल्प का ईंधन डालकर उसे फिर से प्रज्ज्वलित करने की चेष्टा करने लगे।

युवक ने फिर कहा, 'तुम पर आघात न जाने किसने किया, और तुमने नाम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

लिया हम लोगों का !'

चौंक उठे रंगनाथन। बोले, 'ना, मैंने किसी का भी नाम नहीं लिया है। मैं किसी को भी पहचान नहीं पाया था, और असत्य मैं बोलता नहीं।'

धीरे-धीरे आस-पास काफी भीड़ एकत्रित हो गई थी। उन्हीं में से एक नारी कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा, 'इन्होंने नहीं, लल्ला ने कहा है। क्रिस्तानों की तो वह शत्रु है। शबरों से भी घृणा करती है। उसी ने कहा है। मैं शुरू से ही बोलती आ रही हूँ। उसी के कहने पर कोतवालीवालों ने हमारे जवानों को पकड़ा है।'

रंगनाथन के हृदय की अग्नि फिर भड़क उठी। उन्होंने पूछा, 'किसे पकड़ा है ? कब पकड़ा ?'

'मद्रास शहर में हमारे जो जवान रहते हैं, उनमें से दस को पकड़ा है आज सुबह। कुछ देर पहले ही यहाँ संवाद मिला है।'

एक आदमी बोला, 'ढोंग तो देखो ! जैसे कुछ जानता ही नहीं !'

एक और व्यक्ति ने कहा, 'हमारा मुख देखकर पहचानने के लिये आया है गाँव में। पकड़ो, पकड़ो इसे ! बन्द कर दो कोठरी में। रात को—'

कोलाहल प्रबल हो उठा। कुछ लोग भाग गये। तब तक रंगनाथन का मनोबल लौट आया था। वे बोले, 'वरदराज की सौगन्ध, मैं कुछ भी नहीं जानता। लल्ला भी नहीं जानती। तुम लोग जानते हो, लल्ला कहाँ है ? कहीं सन्देह में उसे बन्दी तो नहीं कर रखा तुम लोगों ने ? दुहाई है, सच-सच बताना।'

निर्भीकता आक्रमणकारी को केवल अप्रतिभ ही नहीं करती, कुछ पीछे भी हटा देती है। और इस निर्भीकता के साथ सहृदयता का सम्मिश्रण तो आक्रमण-कारियों के विद्वेष को भी नष्ट कर देता है, उसके स्थान पर विस्मय जगाता है।

यही हुआ। वे लोग रंगनाथन की बातों से स्तब्ध होकर विस्मय से उनकी ओर देखने लगे।

रंगनाथन ने कहा, 'एक बात सत्य कहो। लल्ला कहाँ है ? मैं स्वयं अभी कोतवाली जा रहा हूँ। निश्चिन्त रहो, मैं मिथ्या-भाषण नहीं करूँगा। वे लोग तुरन्त छूट जायेंगे। बताओ।'

एक प्रौढ़ ने आगे बढ़कर कहा, 'मेरी की शपथ आचार्य, हमें लल्ला का पता नहीं मालूम। माँ की मृत्यु के बाद उसने तो ग्राम ही छोड़ दिया है।'

'आज ? आज प्रातः ? आज प्रातः नहीं आई वह ?'

'नहीं, आचार्य। शपथपूर्वक कहता हूँ। विश्वास कीजिये।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रंगनाथन फिर नहीं रुके। मद्रास की ओर दौड़े।

यह कैसी बाधा! यह कौन-सा विघ्न उन्हें विपरीत दिशा में लौटने को बाध्य कर रहा है! लल्ला का सन्धान छोड़कर अब उन्हें कोतवाली जाना होगा। वहाँ पर कितनी देर रुकना होगा—कौन जाने! लल्ला लज्जा के मारे, घृणा—उनके प्रति घृणा के मारे, जाने कहाँ, कितनी दूर जा निकली हैं! उसे जाकर रोकना होगा, कहना होगा, लल्ला, मेरी बुद्धि लौट आई है। लोक-लज्जा की भ्रान्ति दूर हो गई है, समाज का भय अब मुझे नहीं है। तुममें मैंने अपने जीवन की लालसा को नहीं—अपने प्रेम को पाया है। प्रेम के आगे सभी भ्रान्तियाँ तुच्छ हो जाती हैं। क्षमा करो। लौट चलो।

इस पथ में यह कैसी बाधा आ खड़ी हुई है!

कोतवाली में श्रीनिवासन उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इस बीच प्रहरी भी वहाँ पहुँच चुके थे। कोतवाली के कर्मचारियों ने गुप्त छान-बीन करके दस क्रिस्तान-शबरों तथा पाँच शैवों को पकड़ा था। शैव वे लोग नाम को ही थे। धार्मिक प्रवृत्ति का उनमें नाम भी न था—ऐसे ही दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति थे।

श्रीनिवासन के कक्ष के बाहर बरामदे में जोसेफ तथा एक पादरी बैठे थे। मैलापुर के शिव-मन्दिर के एक प्रतिनिधि भी थे, आचार्य चिदाम्बरम भी।

श्रीनिवासन ने पूछा, 'कहाँ गये थे, आचार्य? प्रहरियों ने आकर बताया, आप प्रातः की पूजा से निवृत्त होते ही मद्रास के लिये रवाना हो गये थे।'

रंगनाथन की दृष्टि से एक प्रखरता फूट रही थी। लल्ला की कामना तथा अपनी हीनता उन्हें अधीर किये दे रही थी। एक उन्मत्त विद्रोह उन्हें विक्षिप्त-प्रायः कर रहा था। विद्रोह—अपने प्रति, समाज़, धर्म, सब के विरुद्ध। कोतवाली के विरुद्ध भी, क्योंकि कोतवाली लल्ला को खोज रही है। मिथ्या सन्देह पर ही खोज रही है। जोसेफ के विरुद्ध विद्रोह, आचार्य चिदाम्बरम के विरुद्ध भी विद्रोह। सभी—सभी उनके इस दुःख के कारण हैं। इन्हीं के कारण वे लल्ला को छोड़कर, भीरु-प्रकृति, कुत्सित चोर की भाँति भाग आये थे। बीच-बीच में एक प्रश्न भी जाग उठता है—एक नारी के लिये यह कैसी उन्मत्तता! पर साथ ही वह उन्माद प्रबलतर होकर चीत्कार कर उठता है—हाँ, लल्ला के बिना मैं पागल हो जाऊँगा। अभी अर्द्धोन्मत्त हूँ, अब पूर्णोन्मत्त हो जाऊँगा।

प्रखर कण्ठ से ही कहा रंगनाथन ने, 'आप राज-कर्मचारी हैं, अपने अधिकार-भुक्त व्यक्तियों को राज-कर्म के प्रयोजन के अनुसार चलाने के अभ्यस्त। पर मानव-हृदय तो आपके प्रयोजन के अनुसार नहीं चलता। वरदराज की प्रेरणा से,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अपने हृदय के आग्रह से खिचकर मैं जोसेफ के ग्राम में गया था। वहाँ संवाद मिला कि आपने सन्देह में उस ग्राम के कुछ मद्रास-वासी युवकों को पकड़ रखा है। कुछ शैवधर्मानुरागियों को भी पकड़ा है। संवाद पाते ही मैं दौड़ा आया हूँ। मैंने आपसे कितनी बार कह दिया है, मैं किसी को भी पहचान नहीं पाया था, और मुझे सन्देह भी नहीं है किसी पर। तो फिर आप निरर्थक सन्देहवश क्यों—'

श्रीनिवासन ने बीच में ही बाधा दी, 'आचार्य रंगनाथन, देश के शासन के नियमों को मानने के लिये तो आप भी धर्मतः बाध्य हैं। नहीं ?'

रंगनाथन चुप हो गये। कुछ देर बाद बोले, 'ठीक है। कहिये, कहिये, मुझे क्या करना होगा ?'

'जिन्हें हमने सन्देह में पकड़ा है, उन्हें देखिये। अच्छी तरह से स्मरण करने की चेष्टा कीजिये, उनमें से किसी का उन आततायियों के साथ, आकार-प्रकार, या दृष्टिगत, किसी भी प्रकार का सादृश्य है क्या ?'

'चलिये।'

कोतवाली के पिछले भाग में कुछ खुला स्थान था। वहीं पर प्रहराधीन बैठे व्यक्तियों में से कुछ को बुलाया गया। रंगनाथन उनके सामने आ खड़े हुए।

श्रीनिवासन ने कहा, 'भली-भाँति देख लीजिये।'

रंगनाथन ने उनकी ओर देखा। मुख एक बार पीला पड़ गया, फिर कठिन हो आया, फिर अकारण ही उन्होंने सिर को झटका दिया। क्रिस्तान-शबरों को भली-भाँति देखकर बोले, 'नहीं माननीय श्रीनिवासन, मुझे कहीं कोई सादृश्य नहीं दिखाई देता। मुझे विश्वास है, इनमें से कोई भी नहीं था।'

पल-भर में उन बन्दियों में एक आश्चर्यजनक परिवर्त्तन आ गया। मुख पर स्मित हास्य फूट पड़ा—प्रसन्नता छा गई। उनकी दृष्टियों ने ऐसा कुछ कहा, जो रंगनाथन के लिये चिर-अविस्मरणीय हो गया।

श्रीनिवासन बोले, 'छोड़ दो इन लोगों को। आप उस ओर चलिये।'

कुछ दूर पर ही शैवधर्मानुरागी खड़े थे। वहाँ भी यही घटना हुई।

रंगनाथन बोले, 'अब मुझे आज्ञा दीजिये। मैं चलूँ।'

श्रीनिवासन बोले, 'आपने जान-बूझकर ही नहीं पहचाना, आचार्य।'

'जान-बूझकर ही नहीं पहचाना ?' रंगनाथन ने मानो अपने-आपसे प्रश्न किया। फिर स्वयं ही बोले, 'नहीं।'

'अब मुझे दोष मत दीजियेगा कि अपराधी को पकड़ा नहीं।'

'ना। दिया नहीं, दूँगा भी नहीं। अब मैं चलूँ राज-प्रतिनिधि, रुकने का समय नहीं है।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'कहाँ जा रहे हैं ?'

'मैं ?' कुछ क्षण स्तब्ध रहकर बोले, 'यह तो मैं भी नहीं जानता। यह उद्देश्यहीन यात्रा है, श्रीनिवासन। विस्मित न हों। वरदराज की प्रेरणा, और मेरे अपने हृदय का आग्रह मुझे इस प्रकार भटका रहा है।'

बाहर आते हो पादरी ने उठकर कहा, 'आप सत्यवादी हैं। धन्यवाद। ईश्वर आपका भला करेंगे।'

जोसेफ ने कहा, 'आश्चर्य रंगनाथन, आप पर मेरी श्रद्धा है। आज की बात हम कभी भी नहीं भूलेंगे।'

रंगनाथन के नेत्र पल-भर के लिये विस्फारित हो गये—वे मानो किसी विचार में मग्न हो गये। फिर बोले, 'एक अनुरोध करूँ तुमसे ?'

'कहिये, आचार्य। हम कृतघ्न नहीं हैं।'

'लल्ला यदि लौट आये, तो उससे कहना—मेरे लौटने तक मेरे घर में मेरी प्रतीक्षा करे। कहना, मेरे पूजा-गृह में वरदराज की जो छोटी-सी मूर्त्ति है—उसकी सेवा का अधिकार मैं उसी को दिये जाता हूँ।'

'आचार्य !' प्रबल विस्मय से, अपेक्षाकृत उच्च कण्ठ से, चीत्कार कर उठा जोसेफ। समवेत जन-मण्डली के विस्मय का भी पार न रहा।

रंगनाथन के नेत्रों में अर्द्ध-विक्षिप्त व्यक्ति की-सी अस्वाभाविक दृष्टि थी। वे बोले, 'कल रात्रि वरदराज ने मुझे यही आदेश दिया है।'

'वरदराज ने आदेश दिया है !'

उस ओर से आचार्य चिदाम्बरम बोल उठे, 'हाँ, हाँ, दिया क्यों न होगा ! सब काल की महिमा है ! कलि-युग ठहरा ! हिन्दू-काल कब का बीत चुका। मुसलमान-काल में भी देवताओं ने कभी ऐसी इच्छा प्रकट नहीं की थी। अब श्वेतांग अँग्रेज आये हैं। अब भी यदि देवताओं को म्लेच्छाचार, अनाचार में रुचि न होगी, तो काल-महिमा कैसे प्रकट होगी ? किन्तु आचार्य रंगनाथन, देवताओं का यह आदेश हम नहीं मानेंगे। देव-मूर्त्ति कलुषित होने पर हम उसे नदी या समुद्र में विसर्जित कर देते हैं। तुम भी अपनी इस कलुषित, अशुचि-अभिलाषी देव-मूर्त्ति समुद्र को अर्पित कर दो—नहीं तो तुम्हें हम क्षमा नहीं करेंगे। तुम आज से पतित, शबर-तुल्य हुए।'

रंगनाथन ने कहा, 'जय वरदराज स्वामी ! अपना अमृत प्रसाद मुझे दो, प्रभु !'

कोतवाली से निकलकर वे पार्थसारथी की ओर चले।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मन्दिर में वे नहीं घुसे। जिस ओर भिक्षार्थियों का डेरा रहता था, वहीं जा खड़े हुए। पूछा, 'लल्ला को देखा है ?'

'नहीं तो, प्रभु !'

मैलापुर में कपालीश्वर शिवमन्दिर के आस-पास के भिक्षार्थियों से भी यही प्रश्न किया, 'लल्ला—लल्ला कहाँ है, जानते हो ?'

'नहीं तो !'

तो फिर चलूँ महाबलिपुरम्। राह चलते-चलते ही अचानक ख्याल आया, बिना पाथेय या धन के, एक ही वस्त्र में वे घर से निकल आये थे। कुछ पल थमककर रुके, पर फिर चलने लगे। यही ठीक है, यही उचित है। वस्त्र, धन आदि लाने के लिये लौटने में जितना समय लगेगा, उस बीच लल्ला न जाने कितनी दूर चली जायेगी। लल्ला के लिये उनका अधीर उन्माद पल-पल बढ़ता ही जा रहा है। धर्म नहीं, कर्त्तव्य नहीं, इससे भी बड़ा कुछ है। जीवन की तृष्णा—कोरी तृष्णा नहीं, अमृत-तृष्णा !

चलो महाबलिपुरम्—

महाबलिपुरम् में भी कहाँ है लल्ला ? यहाँ तो आई नहीं !

चलो कांजीवरम—

कांजीवरम में भी कहाँ है लल्ला ? यहाँ केवल इतना सुना—बहुत-से यात्री तंजौर गये हैं। भिक्षुकों का दल भी गया है। वहाँ भारी उत्सव है।

चलो तंजौर।

एकमात्र वस्त्र धूलि-मलिन हो गया। मुखाकृति श्मश्रु-समाच्छन्न हो गई। छिन्न पादुकाएँ फेंक देनी पड़ीं। उत्तरीय से भिक्षा की झोली तैयार की। नये स्वरों में नये गीत रचे, और उनके बल पर भिक्षा-जीवी जीवन व्यतीत करते हुए रंगनाथन आगे चलते रहे। जय वरदराज ! अमृत-प्रसाद दो ! हाय, कहाँ है अमृत-प्रसाद !

हाय, कहाँ है अमृत-प्रसाद !

अमृत शायद कपोल-कल्पना ही है। नहीं, एक बार उसका सौरभ पाया तो था। मुग्ध होकर पात्र अधरों तक भी लाये थे, पर फिर फेंककर चोरों की भाँति भाग आये थे। वह फिर नहीं मिला। वह जीवन में स्यात् एक ही बार मिलता है। जो पान करता है, वह अमर हो जाता है; जो फेंक देता है, उसे फिर कभी नहीं मिलता। तृष्णार्त्त पृथ्वी उसे सोख लेती है, या धूप और पवन उसका पानकर धन्य होते हैं। रिक्त पात्र में फिर उस अमृत का चिह्न भी नहीं मिलता। इस सत्य की उपलब्धि तब होती है, जब केवल शून्य पात्र ही हाथ में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रह जाता है।

० ०

जीवन के इन कुछ वर्षों में यह बात कितनी बार रंगनाथन के हृदय में आई—इसकी कोई गणना नहीं है। तंजौर में यह बात याद आई, मदुरा में याद आई। प्रत्येक स्थान पर यही बात याद आई है। आज भी अपनी वीणा पर हाथ रखे-रखे यही बात याद आ गई।

चार वर्ष बीत चुके हैं। इन चार वर्षों में उनके जीवन में अनेक परिवर्त्तन आ चुके हैं। सारा संसार मिथ्या है। तंजौर में उन्हें प्रताड़ित किया गया—मन्दिर के चबूतरे पर पग भी नहीं रख सके। उनके पहुँचने के पूर्व ही आचार्य चिदाम्बरम के दण्ड का संवाद मद्रास से पहुँच गया था। महाबलिपुरम् पहुँचने तक यह संवाद वहाँ नहीं पहुँचा था। उस दिन मद्रास से महाबलिपुरम् पहुँचनेवाले वे प्रथम यात्री थे। वहाँ से कांजीवरम जाने में भी उन्होंने विलम्ब नहीं किया था। कांजीवरम से लौटते समय अवश्य उन्होंने राह में देर लगा दी थी। वे समुद्र-तट के साथ-साथ लौटे थे। राह में तलाश करते चले थे कि किसी ने किसी किशोरी की मृत देह तो तट पर कहीं पड़ी नहीं देखी ? कुछ दिन बाद विचार आया—ना ! यह कार्य वह नहीं करेगी। उसके पिता उसे कह गये हैं—वह वरदराज का प्रसाद पायेगी। उसकी माँ कह गई है, किसी देव-मन्दिर के बाहर की भूमि बुहारकर, गोपुरम् के सामने खड़े होकर मधुर कण्ठ से वन्दना गाने से ही उसका जीवन चरितार्थ होगा। वह समुद्र में नहीं कूदेगी।

वे लौटकर इस बार फिर तंजौर गये।

अब तक वे पूरे भिक्षुक बन चुके थे।

गोपुरम् के बाहर कांजीवरम से आया हुआ एक शैव पण्डा अपने साथ आये हुए तीर्थ-यात्रियों को तंजौर के शिव-मन्दिर के पण्डों को सौंप रहा था। रंगनाथन को देखते ही वह क्रुद्ध हो उठा। 'यह व्यक्ति अपनी वरदराज की मूर्त्ति को क्रिस्तान-शबरों के हाथ सौंप आया है। स्वयं एक शबरी के सन्धान में दर-दर भटक रहा है। यह गायक है, पर क्या गाता है—जानते हो ? गाता है, कि शबरों और ब्राह्मणों में कोई भेद नहीं है। यह पाखण्डी है, पाखण्डी ! इसके प्रवेश से मन्दिर अपवित्र होगा।'

पर मन्दिर में उन्होंने प्रवेश ही नहीं किया। आवश्यकता भी नहीं थी। लल्ला होगी, तो मन्दिर के बाहर ही होगी। किन्तु फिर भी ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों ने भाँति-भाँति की व्यंग्योक्तियों से उन्हें अनेक प्रकार से लांछित किया। विद्रूप की मार सहते-सहते वे फिर एक बार टूट गये।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अब लल्ला के लिये इस प्रकार उन्मादी बनकर नहीं भटकेंगे। मद्रास लौट जायेंगे। रात्रि को वृक्ष के तले आश्रय लिया। हृदय अपनी असफलता पर सिर धुन रहा था। लल्ला! लल्ला!

अगले दिन तंजौर त्यागकर मद्रास के पथ पर कुछ दूर बढ़कर फिर पलट पड़े थे। लल्ला के बिना जीवित रहकर भी क्या होगा! पर इसके बाद सन्धान की भी तो कोई शृङ्खला नहीं थी। ऐसे ही इधर-उधर भटकने लगे। जिधर भी अधिक यात्री जाते दिखाई देते, उधर ही चल पड़ते। राह में जो भी स्थान पड़ता, वहीं उसे ढूँढ़ने लगते। गीत गा-गाकर भिक्षा माँगते, कुछ संचय होने पर फिर चल पड़ते।

इसी प्रकार आठ मास व्यतीत हो गये। तब तक वे प्रायः विक्षिप्त हो चले थे।

सारे देश में अराजकता फैली हुई थी। सारे हिन्दू-मुसलमान राजवंश समुद्री झंझा में तटवर्त्ती नारियल वृक्षों की भाँति एक-एक कर समूल उखड़ रहे थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गवर्नर-जनरल लॉर्ड वेलेस्ली के भाई कर्नल वेलेस्ली ने तूफानी पराक्रम से मराठों, टीपू सुलतान, और त्रिवांकुर की राज-शक्ति को एक-एक कर पराभूत कर डाला था। इधर पिंडारी, ठगों और चोर-डाकुओं से सारा देश भरा पड़ा था। इस दशा में, विक्षिप्त अवस्था में होने के कारण ही उनका इस प्रकार भटकना सम्भव हो सका था। देह की श्री पथ की धूल से ढँक गई थी। मलिन वेश-भूषा तथा कन्धे पर भिक्षा का झोला ही उनके लिये आत्म-रक्षा का कवच बन गया था। एक अस्त्र भी था—उनका गायन। श्रोता जो भी हो, उनके गीत सुनते ही उसके हृदय में करुणा उमड़ पड़ती थी।

फिर एक घटना घट गई। वे तब श्रीरंगम् में थे। उसी अवस्था में वे गोदा देवी के उपाख्यान पर गीत रचकर, उसे गा-गाकर भिक्षा माँगते थे। यह उपाख्यान उन्हें बहुत ही प्रिय था। विष्णु-भक्त पेरियार-कन्या गोदा ; स्वप्न में आदेश देकर श्री रंगनाथस्वामी ने उससे विवाह किया था। इस कथा में उन्हें लल्ला की कथा के साथ कहीं साम्य मिला था। कभी-कभी वे सोचते, लल्ला अब नहीं है। उसने उन्हें वरदराज कहकर पुकारा था। वरदराज ने उसकी यह भूल मिटा दी है। रंगनाथन के माध्यम से ही उन्होंने इस भूल का आवरण नष्ट कर दिया है, और उसे अपने पास बुला लिया है। लल्ला भी गोदावरी की ही भाँति इस नर-देह के बन्धन से मुक्त होकर, वरदराज के साथ मिलकर एकाकार हो गई है। वरदराज ही तो श्री रंगनाथन हैं। श्री रंगनाथ-स्वामी के विशाल मन्दिर के साथ-साथ बने चबूतरों के बीच उन्होंने पागलों की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तरह उसे ढूँढ़ा है—लल्ला ! लल्ला ! लल्ला !

एक दिन एक व्यक्ति इन्हें बुलाने आया था, 'बाई साहब बुला रही हैं ।'

क्रुद्ध भाव से ही इन्होंने पूछा था, 'कौन बाई साहब ?'

पर नाम सुनते ही सम्भ्रम से मस्तक झुका लिया था। संगीतज्ञ होने के नाते यह नाम इनके लिये सुपरिचित था। विख्यात सरस्वती बाई—संगीतज्ञों की माता—माँ । वे श्री रंगनाथस्वामी के दर्शनों को आई हैं । यहाँ दो बार इनका गायन सुना है, सुनकर बुलाया है ।

पक्व केशी वृद्धा हैं सरस्वती बाई । उन्होंने इन्हें पुत्र कहकर ही सम्बोधित किया । पूछा, 'ऐसा गुण रहते भिक्षा क्यों माँगते हो ?'

पहले तो रंगनाथन मौन ही रहे, पर धीरे-धीरे हृदय के उत्तप्त स्पर्श से विगलित होने लगे ।

इनकी पीठ के मलिन वस्त्र पर परम स्नेह से हाथ रखकर उन्होंने पूछा, 'ईश्वर को ढूँढ़ते हो ?'

ये अवाक्, उनका मुख देखते रहे ।

उन्होंने कहा, 'वह क्या मिलते भी हैं, पुत्र ? मैं तो नहीं जानती । मेरा जीवन तो—'

फिर कुछ क्षण चुप रहकर बोलीं, 'प्रारम्भिक जीवन में रूप और कण्ठ के कारण बिक गई थी । राजाओं का, सुलतानों का मनोरंजन करके देखा—मनोरंजन किया तो जा सकता है, पर कुछ ही समय, या कुछ ही दिनों के लिये । सम्पत्ति मिलती है, पर मन नहीं मिलता । अब इस वयस में मूर्त्ति के दर्शन करने आई हूँ, तो कोरे दर्शन ही मिलते हैं—और कुछ भी नहीं ।'

फिर भी ये कुछ नहीं कह सके । अन्त में बोले, 'मैं किसी को खोज रहा हूँ ।'

'मनुष्य है वह ?'

'हाँ ।'

'नारी ?'

'हाँ ।'

'तुम्हारी पत्नी ?'

'हाँ ।'

'खो गई है ?'

'हाँ ।'

सरस्वती बाई ने कहा, 'पुत्र, ईश्वर होते, तो कहती, शायद मिल जायँ, पर उसके लिये कहती हूँ, अब कभी भी नहीं मिलेगी ।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'नहीं मिलेगी ?'

'नहीं। वह युवती होगी। देश में अराजकता फैली है। अराजकता न भी होती, तो वैसे भी पुरुषों में लम्पट, कामुक ही अधिक होते हैं। वे नर-भक्षकों से भी अधिक हिंस्र होते हैं। वह खो गई है, तो अब मिलेगी नहीं। अपनी ही बात याद आती है। कहा ना, मुझ में रूप भी था, कण्ठ भी, फलस्वरूप—'

'उसमें भी है।'

'तो फिर क्या बाकी है ? वह या तो मर गई है, या बाजार में बिक गई है। खोजते-खोजते शायद कभी दिखाई दे जाये, पर न वह तुम्हें पहचानेगी, न तुम उसे पहचानोगे; अगर पहचान पाओगे, तो आत्महत्या कर लोगे।'

रंगनाथन उन्मादी की भाँति उठकर आने लगे थे, पर अम्मा ने उनका हाथ पकड़कर कहा, 'मैं माँ हूँ, बेटा ! मेरी बात सुनो, जाओ मत। ऐसा कण्ठ है तुम्हारा, ऐसा गायन ! राह में ऐसे ही भटककर मर जाओगे, तो मुझे बड़ा कष्ट होगा। तुम कुछ गाकर मुझे सुनाओ।'

'नहीं गा सकूँगा, क्षमा कीजिये।'

वृद्धा ने कहा, 'तब सुनो, मैं ही गाती हूँ।'

वे वीणा लेकर बैठ गईं। रंगनाथस्वामी का स्तोत्र गाया—

पद्माधिराजे-गरुड़ाधिराजे विरिंचिराजे गुरराजराजे—
त्रैलोक्यराजे खिइलोकराजे श्रीरंगराजे रमतां मनो मे।
लक्ष्मीनिवासे जगतांनिवासे-उत्पन्नवासे रविबिम्बवासे—
क्षीराब्धिवासे फणिभोगवासे श्रीरंगवासे रमतां मनो मे !

शान्त, स्तब्ध हो गये थे रंगनाथन।

अम्मा ने कहा, 'तुम अस्वस्थ हो, कुछ दिन मेरे पास रहकर स्वस्थ हो लो।'

वे रह गये थे। अम्मा के परामर्श से ही उन्होंने कथा-गीत छोड़कर नये सिरे से दक्षिणी-मार्ग संगीत का अध्ययन किया था।

चार मास बाद की घटना है। वे लोग तब पाण्डिचेरी में थे। दक्षिणापथ के उत्तरी भाग में तब भयंकर अव्यवस्था फैल चुकी थी। उसी की लहर दक्षिण तक आ पहुँची थी। भोंसले, सिन्धिया तथा होल्कर ने साथ मिलकर अँग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी, और वे दक्षिण की ओर अग्रसर हो रहे थे।

सरस्वती बाई महीशूर के अन्तिम युद्ध के समय श्रीरंगपत्तन में थीं। उस रक्तपात तथा लूट-मार की स्मृति से वे व्याकुल हो उठीं। बोलीं, 'पुत्र, युद्धोन्मत्त मनुष्य राक्षस बन जाता है। चलो, पाण्डिचेरी फ्रांसीसी-प्रान्त है। वहीं चलो।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पाण्डिचेरी में भी कुछ महीने वे अम्मा के ही पास रहे। उनके निकट नये सिरे से मार्ग-संगीत का अध्ययन किया। उनका मन क्रमशः स्वस्थ होने लगा था। पाण्डिचेरी में कुछ सभाओं में गाकर उन्होंने ख्याति भी अर्जित की थी। पर अचानक ही एक दिन लल्ला की याद आ गई। लल्ला यदि इस बीच मद्रास लौट आई हो! कुछ दिनों में ही वे अस्थिर हो उठे।

एक दिन सरस्वती बाई से कहा, 'मुझे जाना ही होगा। मेरा मन कहता है, वह अब तक मद्रास लौट आई है।'

अम्मा ने भी बाधा नहीं दी।

एक दिन अम्मा से विदा लेकर पाण्डिचेरी से मद्रास लौट पड़े—स्थल-मार्ग से नहीं, जल-मार्ग से, बड़ी मालवाही नौका में। अम्मा ने उन्हें धन के साथ-साथ एक वीणा भी दी। कहा, 'मन को बाँधो, बेटा। वह अब नहीं मिलेगी। इस दुनिया में खोना ही नियम है। मनुष्य सब कुछ गँवाने ही आता है। वह जीवित भी होगी, तो बदल चुकी होगी। पहलेवाली वह अब नहीं मिलेगी।'

कुछ देर चुप रहकर फिर बोलीं, 'ईश्वर की खोज से रोकने का अधिकार मेरा नहीं है। स्वयं भी तो इस वृद्ध वयस में उसके अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं देख पाती हूँ। फिर भी, तुम्हें उस मार्ग पर चलने से रोकती हूँ। तुम्हारे पास अमूल्य मूलधन है। यदि सदा उसी को भुनाकर काम चला सको, तो नयन-जल का आनन्द तुम्हें मिलेगा।'

फिर कुछ देर मौन रहकर बोलीं, 'उसकी अपेक्षा तुम ईश्वर को ही ढूँढ़ो। वह नहीं मिले, तो भी संसार तिक्त नहीं रहेगा। वे जीवन में ही नहीं, मरण में भी मिल सकते हैं।'

अम्मा ने उनके मुख की ओर देखा, फिर बोलीं, 'किन्तु, तुम क्या यहीं नहीं रह सकते, पुत्र? तुम शबरी को पत्नी-रूप में ग्रहण करना चाहते हो, तो क्या मुझे जननी-रूप में ग्रहण करके मेरे पास ही नहीं रह सकते? तुम्हें सम्पत्ति का प्रलोभन नहीं दूँगी। पर संगीत तो देव-दुर्लभ सम्पद है—वही दूँगी।'

रंगनाथन ने कहा, 'अम्मा, सोच देखिये। रामचन्द्र बनवास को आये थे, और सीता को खो बैठे थे। बनवास के अन्त में सीता को लेकर ही लौटे थे। उन्हें लिये बिना क्या वे कौशल्या माता के पास लौट सकते थे? और लौटते भी, तो क्या कौशल्या माता उन्हें यह कहकर वापस नहीं लौटा देतीं, कि सीता को लेकर, तब आओ?'

सरस्वती बाई ने कहा, 'ठीक कहते हो, पुत्र। तुम जाओ। लल्ला को लेकर लौट आना। वह न मिले, तब भी लौट आना।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

मद्रास लौटते ही रंगनाथन की प्रथम भेंट हुई जोसेफ से।

जोसेफ ने पूछा, 'कहाँ गये थे, आचार्य ?'

'उसके सन्धान में।'

'लल्ला के ?'

'हाँ, जोसेफ। तुमसे सब सत्य कहूँगा। मैंने वरदराज का नाम लेकर समुद्र की साक्षी में उससे विवाह किया था। उसी रात्रि को, जिस दिन—'

संक्षेप में सारी बातें जोसेफ को कह सुनाईं उन्होंने। अन्त में कहा, 'मेरा अपराध···मेरे ही अपराध से···' एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा उन्होंने।

जोसेफ ने विस्मय से पूछा, 'तुम शबर बन गये हो, रंगनाथन ?'

'नहीं जोसेफ, लल्ला को ग्रहण करके ब्राह्मणी बनाना चाहा था।'

जोसेफ ने कहा, 'हतभागिन है वह—हतभागिनी ! निर्बोध ! मेरे पास क्यों नहीं आई वह ?'

फिर प्रश्न किया, 'पर तुम अब क्या करोगे, रंगनाथन ?'

'कुछ सोचा ही नहीं।'

जोसेफ ने साग्रह कहा, 'एक बात कहूँ, आचार्य ?'

'कहो।'

'तुम क्रिस्तान बनोगे ? बहुत ही सुन्दरी क्रिस्तान कन्या से तुम्हारा विवाह करा दूँगा। ब्राह्मण क्रिस्तान की कन्या से। पादरी भी मेरी बात मान जायेंगे।'

मुस्कुराकर रंगनाथन बोले, 'नहीं, जोसेफ। लल्ला—लल्ला के अतिरिक्त और किसी का मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं है। यह असम्भव है, जोसेफ।'

जोसेफ कुछ क्षण चुप रहकर बोला, 'तो फिर तुम मद्रास में मत रहो, रंगनाथन। यह बात खुली, तो—'

'उससे मैं लज्जित नहीं होऊँगा, जोसेफ। पतित तो मैं हूँ ही।'

लज्जित वे सत्य ही नहीं हुए। मद्रास को उन्होंने अपने गायन से जीत लिया। अब कथा-गीत नहीं गाते थे। मार्ग-संगीत गाकर उन्होंने नये सिरे से अपनी विजय-पताका फहरा दी थी। अब वे मंदिरों में नहीं, संगीत-विलासी व्यक्तियों के निमन्त्रण पर केवल मनुष्यों के समारोहों में गाते थे। उनके अपूर्व संगीत से प्रभावित मनुष्य उनके पातित्य के ध्यान को हृदय में प्रश्रय ही नहीं देते थे। सभी कहते थे—रंगनाथन ने पागल होकर संगीत में सिद्धि पाई है।

आचार्य चिदाम्बरम ने कहा था, 'तुम प्रायश्चित कर लो, रंगनाथन।'

रंगनाथन ने हँसकर कहा, 'क्षमा कीजियेगा, आचार्य।'

६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

समाज से दूर वे अपने उसी सागर-तटवर्त्ती घर में रहने लगे। लह्ला की साधना में ही समय बितायेंगे। लह्ला की स्मृति ने उन्हें आच्छन्न कर रखा था।

पूर्णिमा की रात्रि को जब समुद्र में ज्वार का कोलाहल उठता, उन्हें लगता, नारिकेल-वन की वायु में किसी नारी-कण्ठ की आकुल पुकार तैरती आ रही है।

प्रभु! प्रभु! वरदराज! लह्ला के वरदराज!

वे उत्कर्ण होकर सुनते।

निरविच्छिन्न आह्वान आता ही रहता—आता ही रहता।

रंगनाथन उद्भ्रान्त की भाँति निकल पड़ते घर से। सागर-तट की ओर चल देते। उच्च बालू-भूमि पारकर नीचे तट पर उतरते। उसी नारिकेल वृक्ष-श्रेणी की दीर्घ छाया में, पूर्णिमा की ज्योत्स्ना के दुग्ध-धवल आलोक में चित्रित-विचित्रित बालुका-तट पर वे भटकते रहते। जोरों से पुकारते, 'लह्ला—लह्ला—मेरी जीवन-लक्ष्मी, कहाँ हो तुम?'

रात को भी अविश्रान्त समुद्री विहंगों का दल ज्योत्स्ना में कलरव करता उड़ता रहता।

कितनी ही रातों को वे उसी नारिकेल-वृक्ष-युगल के तले सो जाते। भोर को जब निद्रा खुलती, पार्श्व में देखते—लह्ला नहीं है! कुछ क्षण चुपचाप बैठे रहते, फिर उठते। घर लौटते और पूजागृह में बैठकर रोते।

पूजागृह में सभी कुछ है, बस, मूर्त्ति ही नहीं है। वरदराज की वह मूर्त्ति जब से चोरी गई है, उसका स्थान शून्य ही है। उसकी पूर्त्ति उन्होंने फिर नहीं की।

कभी-कभी प्रातः निद्रा टूटने पर भी उनका भ्रम दूर नहीं होता। वे उसी दिन की भाँति सोचते—लह्ला उन्हें न पाकर चली गई होगी।

वे समुद्र-तट के साथ-साथ जोसेफ के ग्राम की ओर चल देते।

पल्ली के बालक-बालिका उन्हें देखकर व्यंग्य से हँसते। कहते, 'कहो आचार्य, लह्ला से मिलोगे?'

'लह्ला? कहाँ है वह? कहाँ है?'

'यहीं है, कल लौटी है।'

'बुलाओ। बुलाओ उसे! आह!'

'पर वह तो आयेगी नहीं।'

'क्यों?'

'वह क्रिस्तान बन गई है। संसार के सर्वश्रेष्ठ शरणदाता की शरण में आ गई है। तुम अगर क्रिस्तान बन जाओ, तभी मिलेगी तुमसे।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

धीरे-धीरे उनकी स्वाभाविक चेतना लौटती। वे समझ जाते—ये लोग उनका मजाक उड़ा रहे हैं। विषण्ण चित्त से लौट आते।

कभी-कभी जोसेफ से भी भेंट हो जाती। वह ससम्भ्रम अभिवादन करके कहता, 'आचार्य, फिर तुम कल रात को बाहर निकले थे? पूर्णिमा में फिर चित्त-भ्रम हो गया था तुम्हें?'

रंगनाथन कहते, 'हाँ, जोसेफ। कल गहन निद्रा में भी अचानक ही मानो लल्ली की पुकार सुनाई दी थी। बार-बार सुनाई दी थी। भ्रम तो नहीं था।'

जोसेफ हृदय पर सलीब का चिह्न अंकित करके कहता, 'माता मेरी तुम्हारी रक्षा करें, आचार्य। प्रभु तुम पर दया करें। हो सकता है, यह भ्रम न हो, सत्य ही हो। तब लल्ली मर चुकी है। उसकी प्रेतात्मा ही तुम्हें पुकारकर समुद्र-तट पर ले जाती है। वह चाहती है, तुम समुद्र में कूदकर आत्महत्या कर लो, ताकि तुम दोनों की आत्मा का मिलन हो जाये।'

चुप ही रहते रंगनाथन। सोचते—क्या यही सत्य है? मन कहता—नहीं। लल्ली यदि मर ही गई होगी, तब भी उन्हें आत्महत्या के लिये प्रलुब्ध नहीं करेगी। ना, यह कार्य वह कदापि नहीं कर सकती। वह तो कामना-लुब्ध नहीं थी। उसके हृदय में प्रेम था—केवल प्रेम। वह लास्यमयी भी नहीं थी। तभी तो उन्होंने उसका नाम कलावन्ती से बदलकर कल्याणी कर दिया था। तब उसका श्यामवर्ण मुख कैसा उज्ज्वल हो उठा था!

कुछ मास पश्चात् उनकी यह भ्रान्ति क्रमशः क्षीण होते-होते मिट गई। पर रंगनाथन इससे प्रसन्न नहीं हुए। लगा, सब कुछ मानो शून्य में विलीन हो गया है। उस भ्रान्ति में वे लल्ली को खोकर भी मानो पाये हुए थे।

कितनी ही रातों में, इसी भ्रम के वश, नारियल वृक्षों की छाया में चमकती किसी शीर्ण ज्योत्स्ना-रेखा को लल्ली समझकर वे उस ओर दौड़े हैं। वह नहीं मिली, तब भी भ्रम टूटा नहीं है। लगा है, लल्ली कौतुक या अभिमानवश इस घनी छाया में कहीं छिप गई है। वे खोजते रहे हैं। खोजते-खोजते क्लान्त होकर उसी नारियल-वृक्ष-युगल के तले आकर सो रहे हैं। सोचा है, कुछ देर में आकर वह उनके पास बैठ जायेगी। मृदु स्वर में पुकारेगी, 'मैं आ गई हूँ, प्रभु। मुझे क्षमा करो, मेरे वरदराज, मैंने तुम्हें दुःख दिया है।' यही सोचते-सोचते उनकी आँख लग गई है। निद्रा के आवेश में ही अनुभव हुआ है, लल्ली उनके पार्श्व में सोई है। हाथ बढ़ाकर उन्होंने वृक्ष के तने को ही जकड़ लिया है, कि नींद टूट गई है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उस मिथ्या भ्रम में भी वे मानो विरह-मिलन के परम आनन्दमय सत्य-लोक में वास कर रहे थे। कटु वास्तविकता उस आनन्द-लोक में जाने कहाँ विलीन हो गई थी !

बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने निश्चय किया—अब फिर देव-मन्दिरों के सामने बैठकर देवताओं को अपने गीत सुनायेंगे।

उसी दिन वे मद्रास छोड़कर कांजीवरम चल दिये। वहाँ वरदराज के मन्दिर के बाहर एक वृक्ष के तले बैठकर उन्होंने वीणा के संग भजन गाना आरम्भ कर दिया—

मधुरं मधुरं मधुरं मधुरं
मधु तोहपि मधुरं मधुरं मधुरं।
मधुरं वदनं मधुरं वचनं
मधुरं मधुरं कलेवरं।
मधुरमधीरम निक्कति मधुरं
मधु तोहपि मधुरं पीताम्बरं।
मधुरं चरणं चरणाभरणं
मधुर सुरः स्थित रत्नं।
मधुर स्मित मेतदहो
प्रेक्षणम तनु मनोहरं।

आत्मलीन होकर वे गा रहे थे। अन्य किसी भी ओर उनका ध्यान न था।

अचानक मन्दिर से काँसे का घण्टा, सिंगा और नगाड़ा लिये कुछ लोग निकले, और उन्हें घेरकर अपने वाद्य बजाने लगे। तब उनका ध्यान गया कि उनके चारों ओर अनेक श्रोता एकत्र हो गये थे। उन श्रोताओं के उस ओर मन्दिर से आये हुए व्यक्तियों ने बाजे बजाना आरम्भ कर दिया था।

उस कर्णभेदी नाद में वे अपना स्वर स्वयं ही नहीं सुन पा रहे थे। अपना गायन मध्य में ही बन्द करना पड़ा उन्हें। समझ गये, पुरोहितों ने उन्हें क्षमा नहीं किया है। एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर वे उठ गये।

ना ! देव-मन्दिरों से वे निर्वासित हो चुके हैं। मन्दिरों में देवता की कोई भी सत्ता नहीं होती। पुरोहित ही सर्वेसर्वा होते हैं। भूल ! भूल हो गई थी उनसे।

वहाँ से आकर कांचीपुरम के पास ही खुले आकाश के नीचे रात्रि व्यतीत कर दी। और किसी का आश्रय नहीं लेगे वे। वे पथिक हैं। लल्ला के सन्धान में निकले हैं। पथ ही उनका आश्रय है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नींद उन्हें आई नहीं। क्षुधा लगी थी—असह्य क्षुधा।

उसी अवस्था में वे आकाश को ओर देखे जा रहे थे, कि निकट ही कुछ व्यक्तियों की आहट पाकर शंकित हो उठे। इसी वरदराज के मन्दिर में उस बार के कथा-गान की घटनाओं का स्मरण हो आया। गायन समाप्त करके जब नौका पर चढ़ने के लिये समुद्र की ओर आ रहे थे, तभी तो अज्ञात आततायियों ने उन पर प्रहार किया था, पूछा था, 'ऐसी गीत-रचना किसने सिखायी तुम्हें ?'

आज भी क्या उसी घटना की पुनरावृत्ति होगी ? उस दिन आघातकारियों को उन्होंने पहचान लिया था। वे लोग जोसेफ के आदमी थे। क्रिस्तान बन-कर उन्होंने नई शिक्षा प्राप्त की है, उन्नति की है। वे लोग अब शबरों को पतित कहने से क्रुद्ध हो उठते हैं। रंगनाथन ने तो उन पर उच्च वर्ण के अन्याय-अत्याचार से क्षुब्ध होकर उन्हीं की जयकार करनी चाही थी। पर वे लोग इसे समझे नहीं और रंगनाथन पर प्रहार कर बैठे।

आज जो लोग आ रहे हैं, वे निस्संदेह पुरोहितों के दल के व्यक्ति हैं। उन्होंने इन्हें क्षमा नहीं किया है। इन्होंने ब्राह्मण होकर एक शबर-कन्या से प्रेम किया है, जोसेफ को उसे अपनी वरदराज की मूर्त्ति सौंपने का आदेश दिया है, इसीलिये वे लोग क्रोध से पागल हो उठे हैं। जब वापस मद्रास लौटकर इन्होंने मार्ग-संगीत द्वारा लोगों के हृदयों को जीत लिया था, सम्मान के साथ ही सम्पत्ति भी पाई थी, तो समझे थे, पुरोहितों के हृदय पर भी इन्हें विजय प्राप्त हो गई है। पर नहीं। वहाँ इन्हें विजय नहीं मिली। उन लोगों ने प्रायश्चित करवाना चाहा था, वह भी इन्होंने नहीं किया। इससे उनका आक्रोश और भी बढ़ गया। आज वरदराज के मन्दिर के बाहर गीत गाने को इनकी चरम धृष्टता मानकर वे लोग इन्हें दण्ड देने आ रहे हैं।

ये स्थिर होकर बैठ गये। आने दो, जो भी आये।

वे लोग कुछ दूर पर ही रुक गये।

इन्होंने पूछा, 'कौन ? कौन हो तुम लोग ?'

'आप आचार्य रंगनाथन हैं ?'

रंगनाथन हँसकर बोले, 'आचार्य हूँ या नहीं, कह नहीं सकता, पर रंगनाथन मैं हूँ।'

'मैं आपसे ही मिलने आई हूँ।'

विस्मय से चौंक उठे रंगनाथन। यह तो नारी-कण्ठ है!

सांगोपांग वस्त्राच्छादित एक मूर्त्ति उनकी ओर बढ़ आई। उनके सामने बालु-का पर नत-जानु होकर उसने चादर उतार दी और बोली, 'प्रणाम, आचार्य!'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

उस दिन पूर्णिमा थी। परिपूर्ण ज्योत्स्ना से संसार जगमगा रहा था। उसी ज्योत्स्ना में रंगनाथन अवाक् होकर उसके मुख की ओर ताकते रह गये। कैसा अद्भुत रूप है! कृष्णांगी नहीं, गौरवर्णा है—अपरूप लावण्य से युक्त, पूर्णयौवना सुन्दरी।

'तुम कौन हो?' रंगनाथन ने पूछा।

वह बोली, 'मैं सामान्या हूँ। हेमाम्बा है मेरा नाम।'

हेमाम्बा! रंगनाथन के विस्मय की सीमा न रही। देवदासी श्रेष्ठा हेमाम्बा! बहुत पहले उसे देखा था रंगनाथन ने। तब देखा था, आलोकमाला से उज्ज्वल मन्दिर में, नर्त्तकी के वेश में—अपूर्व प्रसाधनों से प्रसाधिता, अलंकारों तथा पुष्पहारों से सज्जिता। आज की इस युवती की देह पर उन सब का चिह्न भी नहीं है। पर पहले से कहीं अधिक श्रीमयी दिखाई दे रही है। और फिर यह भुवनमय ज्योत्स्ना! इसके प्रकाश में सूर्य की दीप्ति नहीं है, उत्ताप नहीं है, पर एक अनोखा रहस्य-सा है। यह रूप का सूक्ष्म विश्लेषण नहीं करती, वरन् एक रहस्यमयी-सी कुहेलिका से अपरूप बना देती है। शुभ्र सौन्दर्य पर भी एक प्रसाघन-सी शुभ्रता का और विलेप कर देती है। उनके हृदय में गूँज उठा—

'स्वर्णकमलवर्णाभां सुकोमलां सुलोचनां शुभ्रज्योत्स्नाविलेपितां अपरूपां मनोरमां—।'

सलज हास्य के साथ हेमाम्बा बोली, 'आचार्य, आपको अपने घर ले चलने को आई हूँ। ज़ब पुरोहितों ने शृङ्गवाद्य, नगाड़े आदि बजाकर आपके गायन में बाधा दी थी, तब मैं भी एक चादर में अपने को छिपाये हुए, श्रोताओं के मध्य खड़ी आपका गीत सुन रही थी। मेरे नयनों से जल बह रहा था। आप जब गाना बन्द करके उठकर चले गये, तब मुझे बड़ा दुःख हुआ था। समझ नहीं पाई, कांजीवरम में आप कहाँ जायेंगे, कहाँ आश्रय पायेंगे! एक अनुचर को आपके पीछे-पीछे भेजा था, आपका विश्राम-स्थल देखने के लिये। उसने बताया, आप नगर के बाहर, बालुचर पर अपना उत्तरीय बिछाकर लेटे हैं—भूखे ही; क्योंकि उसने कहीं भी आपको कुछ खाते नहीं देखा था। इसीलिये मैं आई हूँ, आचार्य। कुछ आहार्य भी लाई हूँ। कृपया ग्रहण कीजिये, और दया करके रात्रि-अवस्थान के लिये मेरी कुटिया में पधारिये।'

अवाक् थे रंगनाथन। बोले, 'लाओ, आहार्य दो। सत्य ही बड़ी क्षुधा लगी थी मुझे। पर तुम्हारे घर मैं नहीं जाऊँगा, देवदासी श्रेष्ठा। उससे तुम पर विपत्ति आ सकती है।'

हेमाम्बा बोली, 'अब मैं देवदासी नहीं हूँ, आचार्य। आपको सम्भवतः पता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

नहीं। एक रात्रि मन्दिर से निकलते ही मेरा अपहरण कर लिया गया था—फिरंगी पल्टन के कुछ गोरों द्वारा। प्रातः कुछ लोगों ने मुझे नगर से कुछ कोस दूर अचेत अवस्था में पड़ा पाया था। तब से मैं देवदासी नहीं, गणिका हूँ।'

हेमाम्बा ने मस्तक झुका लिया।

रंगनाथन ने कहा, 'पहले मुझे भोजन करने दो।'

हाथ पसार दिये उन्होंने। आहार के पश्चात् जल पान करके बोले, 'आह ! आहार के बिना प्राण नहीं बचते। तुमने मुझे आहार नहीं, प्राण दिये हैं।'

हेमाम्बा ने कहा, 'आप मेरे घर चलिये। मुझे पता है, आप श्रीरंगम में कई दिन अम्मा सरस्वती बाई के साथ रहे हैं। वे आपसे मातृवत् स्नेह करती थीं।'

फिर कुछ मृदु स्वर में बोली, 'मैं जीवन भर आपकी दासी बनकर रहूँगी, आचार्य। आप एक शबरी से प्रेम करके, उसे खोकर उद्भ्रान्त-से हो रहे हैं—गृहहीन वैरागी हो गये हैं। मैं उस शबरी से भी अधिक प्रेम करना जानती हूँ, प्रभु। मैं केवल एक दिन के लिये नहीं, जीवन भर के लिये आपको ले जाना चाहती हूँ। मेरे पास अर्थ का अभाव नहीं है, प्रभु। मैं आपको साथ लेकर यह स्थान त्याग दूँगी। मद्रास जाने में सम्भवतः आपको लज्जा हो, हम पांडिचेरी चलेंगे, नहीं तो कलकत्ता—जहाँ भी आप कहें।'

माटी की मूरत-से स्तब्ध बैठे रहे रंगनाथन।

'आचार्य !'

'देवी !'

'देवी नहीं, मैं हेमाम्बा हूँ, आपकी दासी।'

'तुम्हारे अमृतमय वाक्य मधु से भी मधुर हैं, किन्तु तुम मुझे क्षमा करो।'

कुछ पल मौन रहकर हेमाम्बा बोली, 'एक बात पूछूँ, आचार्य ?'

'पूछो।'

'कृष्णांगी लल्ला क्या मुझसे भी अधिक रूप-गुणों की अधिकारिणी है ?'

'यह मैं नहीं कहता, देवी।'

'तो फिर ?'

'एक दिन समुद्र-तट पर, आज जैसी-ही पूर्णिमा की रात्रि को, उसने मुझसे कहा था, 'आप ही मेरे वरदराज हैं।' मैंने कहा था, 'यदि मैं तुम्हारा वरदराज हूँ लल्ला, तो तुम मेरी लक्ष्मी हो, या फिर गोदा देवी, जिन्होंने लक्ष्मी होकर भी अनार्य कुल में जन्म लिया, और फिर अपनी तपस्या के बल पर नारायण के पार्श्व में अपना अधिकार अर्जित किया, जिस पर वे आज भी प्रतिष्ठिता हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'पर वह तो खो गई है, आचार्य।'

'मेरे हृदय में वह अक्षय है, हेमाम्बा। नहीं तो तुम्हारे आमंत्रण की उपेक्षा नहीं करता। इसे सिर-माथे पर लेता। वह मेरे लिये वरदराज का निर्माल्य है। मेरे जीवन में समा गई है वह। तुम मुझे क्षमा करो।'

हेमाम्बा कुछ पल नतमस्तक, चुपचाप बैठी रही। फिर प्रणाम करके उठी, और भोजन का पात्र उठाकर चली गई। रंगनाथन ने देखा, ज्योत्स्ना के आलोक में उसके कपोलों पर दो रेखाएँ चमक रही थीं। रो रही थी हेमाम्बा!

उस दिन वे भी रोये थे, पर बाद में—

अगली ही भोर को वे मद्रास चल दिये।

पर कुछ दिनों में ही वहाँ कांजीवरम से एक विचित्र संवाद पहुँचा, जिसे लेकर मद्रास के उच्चवर्गीय समाज में परिहास तथा व्यंग्य की सीमा न रही।

रंगनाथन ने म्लेच्छ उच्छिष्टा देवदासी के हाथ का अन्न-जल ग्रहण किया है। उनकी उपाधि ही हो गई—'हेमाम्बा का जार', 'शबरी का प्रेमी'।

मद्रास के विशिष्ट व्यक्तियों की मजलिस में कभी गाने बैठते, तो गीत आरम्भ होते ही कहीं से कोई पुकार उठता, 'जय लल्ला!' गीत समाप्त होते ही ध्वनि उठती, 'जय हेमाम्बा!'

तिक्त होकर अन्त में एक दिन उन्होंने किसी प्रकार प्रयत्न करके अँग्रेजों के जहाज में स्थान जुटा लिया। कलकत्ता जायेंगे। वहाँ से उत्तर भारत का भ्रमण आरम्भ करेंगे।

० ०

उत्तर भारत में तीर्थ-यात्रा आरम्भ की। पर वाराणसी, प्रयाग, अयोध्या और वृन्दावन के बाद और आगे न जा सके। समस्त उत्तरी भारत एक युद्धक्षेत्र में परिणत हो चुका था। केवल अयोध्या के नवाब के राज्य में कुछ शान्ति थी। कुछ दिन वृन्दावन रहे—राधा और कृष्ण के धाम में।

श्रीकृष्ण से भी बढ़कर राधाजी की महिमा है। जगतपति, पुण्यावतार कृष्णजी भी उनके अधीन थे—उनके चरण पकड़कर मान-भंजन किया था। पर फिर छोड़कर चले गये थे। जीवन भर रोई थीं राधा।

कुंज-कुंज में भटककर सुनते रंगनाथन—वह क्रन्दन क्या अब भी सुनाई देता है? अपने जीवन का सादृश्य मिलता था इसमें। उनके निकट लल्ला और राधा के क्रन्दन में कोई अन्तर नहीं था।

मानव-मन भी विचित्र है। एक दिन फिर उतावला हो उठा। दक्षिण की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्मृति ने फिर मस्तक उठाया। मद्रास! कौन जाने लछ्ला इस बीच लौट आई हो! मन-ही-मन कितनी ही कथाओं की रचना करते। लछ्ला शायद पथ भूलकर भटकती हुई, मराठों या निजाम के प्रान्त में पहुँच गई हो—जहाँ निरन्तर युद्ध चलता ही रहता है। चारों ओर फिरंगी सैनिक फैले हुए हैं। कहीं उन्होंने उसे पकड़ लिया हो, निर्मम अत्याचार किया हो। माल्यवान पर्वत-यात्रा के समय मिली उस शबरस्थली की याद आई। वह युवती—उन्नि—उनके गोष्ठी-पति की कन्या! अत्याचार से पागल हो गई थी। दिन-रात चीखती रहती थी—'ना-ना-ना, छोड़, छोड़ दे, छोड़ दे! मार डाल, मुझे मार डाल!' लछ्ला भी कहीं उन्नि की तरह पागल न हो गई हो। शायद इतने दिनों में अब वह फिर से स्वस्थ हो उठी हो, स्वस्थ होकर मद्रास लौट आई हो। जोसेफ ने अवश्य उससे सब कुछ कह दिया होगा। हो सकता है, उनकी बाट निहारती वह जोसेफ के ग्राम में ही बैठी हो।

सोचते-सोचते मन में यह विश्वास दृढ़ हो उठा। फिर एक रात यही स्वप्न देखा, और अगली सुबह ही उठकर मद्रास जाने का संकल्प कर लिया। वृन्दावन से लौटते हुए, मार्ग के शहरों की बड़ी-बड़ी सभाओं में गीत गा-गाकर धनोपार्जन करते गये, और कभी नौका पर, कभी किसी वाहन पर, तो कभी पैदल ही यात्रा करते हुए कलकत्ता आ पहुँचे। फिर फिरंगी जहाज में स्थान की व्यवस्था की। मद्रास जा रहे हैं, सो वहाँ से उतरते ही, जोसेफ के ग्राम के किसी व्यक्ति से तो भेंट होगी ही। उनमें से कई व्यक्ति बन्दरगाह पर ही कार्य करते हैं।

पर जहाज पर जाते ही स्वयं जोसेफ से ही भेंट हो गई।

'जोसेफ!'

जोसेफ भी उन्हें देखकर आश्चर्यचकित रह गया।

'तुम क्या मुझे ढूँढ़ने कलकत्ता आये हो? लछ्ला लौट आई?'

जोसेफ मुस्कुरा दिया, एक विषण्ण-सी मुस्कान। बोला, 'उस अभागिन को तुम अब भी नहीं भुला सके, आचार्य?'

'कैसे भुला सकता हूँ, जोसेफ? उसे मैंने सचमुच ही प्यार किया है। केवल समाज के भय से कुछेक पल के लिये विमूढ़ हो गया था, उसी को लेकर इतना दुःख उठा रहा हूँ। पर उसका दुःख, उसकी दुर्दशा कितनी भारी है, जरा सोचो तो। उफ्—!'

दीर्घ निःश्वास के साथ जोसेफ ने उत्तर दिया, 'ना, आचार्य। वह तो लौटी नही है।'

'नहीं लौटी!' स्तम्भित हो गये रंगनाथन। इतना दृढ़ विश्वास, तीर्थ का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

स्वप्न—सभी मिथ्या हो गये। संसार में क्या सभी मिथ्या है ? सत्य क्या कुछ भी नहीं है ? हे वरदराज ! हे श्री रंगनाथ प्रभु ! हे एकाम्बरेश्वर ! हे कन्या-कुमारी ! अनादिकाल से महेश्वर की कामना लेकर तुम जो तपस्या कर रही हो, क्या वह भी मिथ्या है ?

दीर्घ श्वास लेकर लौट पड़े थे रंगनाथन, कि जोसेफ ने रोका।

'कहाँ जाओगे ?'

'पता नहीं, जोसेफ। जैसे अब तक इधर-उधर भटकता रहा हूँ, वैसे ही भटकूँगा। यों अभी कुछ दिन यहाँ रुकूँगा।'

'नहीं आचार्य, लौट ही चलो। मद्रास में हम तुम्हारे अभाव का अनुभव करते हैं। अब वहाँ कोई तुम्हारा विरोध नहीं करेगा। तुमने वाराणसी और वृन्दावन के मन्दिरों में जो गीत गाये, उनकी प्रशंसा मद्रास तक पहुँच गई है। चलो, लौट चलो।'

रंगनाथन को बड़ा भला-सा लगा यह सुनकर। कुछ क्षण चुप रहकर बोले, 'आया तो इसीलिये था यहाँ। कम्पनी के जहाज में मद्रास जाने की व्यवस्था भी कर ली थी। जोसेफ, वृन्दावन में मैंने स्वप्न देखा था—लल्ला मद्रास लौटकर तुम्हारे ग्राम में बैठी मेरी राह देख रही है। उसी विश्वास से, बड़ी आशा लेकर लौट रहा था।'

कुछ समय के मौन के बाद फिर बोले, 'तो फिर चलो।'

जोसेफ ने उनका हाथ थामकर कहा, 'मैं व्यवसायियों की पण्य-सामग्री लेकर बड़ी नौका में आया हूँ। मैंने अपनी बड़ी मालवाही नौका बनवा ली है। यहाँ का माल लेकर कल ही प्रस्थान कर रहा हूँ। तुम भी साथ ही चलो।'

उसी नौका में लौटे थे रंगनाथन। नौका बीच-बीच में तट पर विश्राम लेने को रुकती, फिर आगे बढ़ चलती। पानीय जल की, आहार इत्यादि की भी आवश्यकता होती ही रहती थी। इसीलिये उस दिन पुरी के निकट रुकी थी नौका।

नीलमाधव की राजधानी है पुरी। समुद्र से ही मन्दिर के शिखर के दर्शन होते हैं। हठात् रंगनाथन का चित्त आलोड़ित हो उठा।

महातीर्थ जगन्नाथधाम ! समग्र जनता का परम तीर्थ ! शबर तो इन जगन्नाथ नीलमाधव के परमप्रिय हैं। शबरों की भी इन पर अगाध भक्ति है। इनकी सेवा के अधिकारी भी हैं वे। यहाँ महाप्रसाद में जाति-भेद नहीं है, स्पृश्यास्पृश्य का विचार भी नहीं है। यहाँ सभी समान हैं—नितान्त समान। इसी चिन्तन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

में रंगनाथन के नेत्रों में जल भर आया। अनुताप हुआ—आज तक इन महाप्रभु, इन महान देवता को गीत नहीं सुनाया !

वे वीणा लेकर उठ खड़े हुए। बोले, 'मैं यहीं उतरूँगा, जोसेफ। जगन्नाथ को आज तक गीत नहीं सुना सका था। मैं उतरूँगा।'

जोसेफ हँसकर बोला, 'उतरेंगे आचार्य ? पर मद्रास ?'

'जाऊँगा, जाऊँगा। पर बाद में। अभी तो मुझे उतार दो।'

एक छोटी नौका मँगवा दी जोसेफ ने। बोला, 'मद्रास को मत भूलना।'

तब से रंगनाथन यहीं रह रहे हैं। बड़ा अच्छा लगता है यहाँ।

पुजारियों की अनुमति से, जब प्रथम बार मन्दिर में गाने का अवसर मिला, तब वही गीत सुनाया था जिसके कारण कांजीवरम में उन्हें तिरस्कृत होना पड़ा था। वही गीत—'जिनका वास कृष्णवर्ण चर्म के अन्तराल में है, वही वैकुण्ठ में भी निवास करते हैं। श्वेत, पीत, गौर, श्याम—सभी प्रकार के चर्मों से आवृत्त देहों में उन्हीं का वास है। जीव में भी वही हैं, और जड़ में भी वही। वैकुण्ठ में जिनका निवास है, वही ब्राह्मण-पल्ली में भी हैं, और शबर-पल्ली में भी। उस कृष्णवर्ण चर्म के अन्तर में जो हैं, वही कहीं वरदराज, कहीं जगन्नाथ, कहीं श्रीरंगनाथन, और कहीं रामेश्वर कहलाते हैं। वही काशी के विश्वनाथ हैं। कैलाश में जो भवानीपति के रूप में सुशोभित हैं, उन्होंने ही किरात-वेश में प्रकट होकर अर्जुन की पूजा को, उसकी अर्पित माला को ग्रहण किया था।'

चारों ओर से जय-ध्वनि उठी थी—जय जगन्नाथ ! जय नीलमाधव ! एक दिन में ही उन्होंने सभी की स्नेहभरी प्रशंसा अर्जित कर ली थी। हृदय उनका परिपूर्ण हो उठा था। उठकर आते समय प्रभु को प्रणाम करके कहा था, 'सान्त्वना तुम्हारे निकट ही मिलेगी मुझे। शेष जीवन यहीं बिता दूँगा।'

तब से यहीं रह गये हैं। शबर-पल्ली के पूर्व तथा पश्चिम में भी, चक्रतीर्थ के साथ ही लगा हुआ झाऊ वृक्षों का घना वन है। उत्तर में नीलमाधव का मन्दिर है, और सामने बेला-भूमि के आगे, अविश्रान्त कल्लोल-रत समुद्र। इसी पल्ली में देख-भालकर पूर्व की ओर के झाऊ वन में उन्होंने एक कुटीर बनवाया। छोटा-सा मनोरम कुटीर। एक बरामदा दक्षिण की ओर, एक पश्चिम की ओर। प्रात: उठकर पश्चिमी बरामदे में बैठकर, वीणा की झंकार के साथ भैरवी का आलाप छेड़ते हैं। संध्या को दर्शन के लिये मन्दिर चले जाते हैं। आरती के बाद प्रभु को प्रणाम करके लौटते हैं और दक्षिणी बरामदे में बैठकर समुद्र की ओर निहारते हुए, अपनी तरंग में संगीत-साधना करते रहते हैं। समुद्र के वक्षस्थल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

पर उद्वेलित तरंगों के शीर्ष बीच-बीच में विचित्र-सी दीपमाला से आलोकित हो उठते हैं। मन-ही-मन वे कहते हैं···यही अच्छा है···यही अच्छा है···

जप कोटि गुणं ध्यानं ध्यान कोटि गुणं लयः।
लय कोटि गुणं गायं गानात् परतरं नहि।

इसी में उनका जीवन पूर्ण हो।

कभी-कभी निमन्त्रण भी आते हैं। देवदासियों के नृत्य देखने के लिये पुरोहित बुला भेजते हैं—'आज एक देवदासी मन्दिर में प्रभु के आगे नृत्य कर रही है। देखने का निमन्त्रण दिया है, आचार्य। अवश्य पधारें।'

शेष समय व्यतीत होता है शबर बालक-बालिकाओं के मध्य। पर वहाँ भी कभी अकस्मात् ही लल्ला उनके सम्मुख आ खड़ी होती है। कभी-कभी तो वे विभ्रान्त-से हो जाते हैं।

कभी लगता है, जगन्नाथदेव के मन्दिर में मणिवेदी के निकट, मूर्त्ति की ओट में ही खड़ी है लल्ला। तब सारा दिन विषण्णता से भर उठता है—रात्रि भी।

तब पुरी छोड़कर भुवनेश्वर को चल देते हैं।

बिन्दु सरोवर के निकट जा बैठते हैं। सरोवर के बीच मन्दिर बना हुआ है। वैशाख में चन्दन-यात्रा के समय भगवान आकर उसी मन्दिर में निवास करते हैं। कभी-कभी रंगनाथन मन्दिर-मन्दिर भटकते रहते हैं। देवाधिदेव महादेव तथा महादेवी के चत्वर पर बैठकर गीत सुनाते हैं।

कभी मन्दिर की प्राचीर पर उत्कीर्ण वृक्षों पर अपनी लीलायित देह का भार डाले झुकी किसी प्रतीक्षारत तरुणी की अनुकृति देखते हैं। उसमें भी उन्हें लल्ला की छाया दिखाई देती है।

कभी खण्डगिरि-उदयगिरि की यात्रा पर चल देते हैं। वहाँ चारों ओर गहन-गंभीर वन हैं। बाघों का, सर्पों का भय है। पर वे मानो भय को जीत चुके हैं। वहीं कहीं किसी गुफा में रह लेते हैं। अपराह्न होने पर लौट आते हैं।

कुछ दिन बाद, भुवनेश्वर में भी एक छोटा-सा कुटीर बना लिया। पुरीधाम में जब यात्रियों की भीड़ होती है, यहीं चले आते हैं। जन-समागम उन्हें नहीं सुहाता। बस, अपने विचारों में खोये रहना अच्छा लगता है।

अम्मा सरस्वती बाई ने ठीक ही कहा था, 'सभी कुछ मिथ्या है, पुत्र। मैंने उच्चकुल में जन्म लिया था। रूप और कण्ठ के कारण मनुष्यों ने मुझसे मेरी गृहस्थी छीन ली, मुझे नर्त्तकी बना दिया। इसमें मुझे अपमान जितना भी मिला हो—एक निरासक्ति भी मिली है। अब मैं निरासक्त होकर पृथ्वी को देख

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सकती हूँ। इस प्रकार देखकर ही समझा है, मनुष्य पृथ्वी पर कुछ लेने नहीं—देने आता है, पाने नहीं—खोने आता है। पाना मिथ्या है, खोना ही सत्य है। सब खोकर, निःस्व होकर राह पर आ खड़े होने में बड़ा दुःख होता है, पुत्र। इसीलिये, जो जीवन के प्रारम्भ से ही निःस्व होता है, उसे कुछ भी खोना नहीं पड़ता। लल्ला को तुमने पाया था, उसने सत्य ही अपने-आपको तुम्हारे आगे उँड़ेल दिया था—इसीलिये तुमने उसे खोया, इसीलिये तुम दुःखी हो। किसी और को पाये बिना उसे नहीं भुला सकोगे। इसीलिये कहती हूँ, भगवान को पाने की चेष्टा करो, जो एक बार मिलने पर खोते नहीं।'

लल्ला खो गई है, पर उसे ये भुला नहीं पा रहे हैं—भुला पायेंगे भी नहीं। ईश्वर को पाना, उन्हें माँगना चाहते हैं, पर फिर भी मानो माँग नहीं पाते हैं; क्योंकि अगर भगवान मिल जायेंगे, तो लल्ला को खोने का दुःख भी तो खो बैठना होगा।

लल्ला खो गई है—पर उसे खोने का दुःख वे नहीं भुला पायेंगे। भुलाना चाहते भी नहीं। ऐसा होगा, तो लल्ला निश्चिह्न जो हो जायेगी।

० ०

उस दिन भी वीणा पर हाथ रखे बैठे यही सोच रहे थे। फाल्गुन का महीना—पुरी में भगवान की दोल-यात्रा का उत्सव निकट था। यात्रियों के दल आने आरम्भ हो गये थे, दिनों-दिन भीड़ बढ़ती जा रही थी। उस कोलाहल से भागकर भुवनेश्वर के निकट निर्जन प्रान्त में स्थित अपने कुटीर में आश्रय लिया था रंगनाथन ने।

आज बिन्दु सरोवर के तीर पर बैठे हैं। चम्पक वृक्ष फूले हैं। मदिर गंध छा रही है। पास ही एक नीम वृक्ष से लिपटी माधवी लता मानो पीतमर्म, शुभ्रवर्ण पुष्प-गुच्छों के भार से ढली जा रही है। दिन एक प्रहर चढ़ आया है। वीणा गोद में पड़ी है, उसके तारों को छेड़कर वे स्वर निकाल रहे हैं, क्या बजा रहे हैं—इसकी उन्हें सुधि ही नहीं है। अवचेतन मन ही मानो उनकी अँगुलियों को संचालित कर रहा है। वे विचार में डूबे हैं—सब मिथ्या है—यही सबसे बड़ा सत्य है।

पुष्प-स्तवकों को घेरकर वन्य मधु-मक्षिकाएँ गुंजन कर रही हैं—एक प्रमत्त-सा गुंजन। उनकी अँगुलियाँ वीणा की झंकार में उसी गुंजन को उभार रही हैं।

एक कलरव-सा सुनाई दिया।

उन्होंने दृष्टि उठाई। उस कलरव की भाषा ने उनको आकृष्ट किया। तमिल भाषा में बातें हो रही हैं। दक्षिण के यात्री इसी समय अधिक आते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

अँग्रेज, मराठों, निजाम और पिण्डारी आदि के ताण्डव में स्थल-पथ से आना असम्भव है। समुद्र-मार्ग आषाढ़ में झंझा-विक्षुब्ध रहता है। इसीलिये इस वसन्त ऋतु में दोल-उत्सव के समय आते हैं। तमिल-भाषी यात्री थे, इसलिये स्वाभाविक ही था कि रंगनाथन उत्सुक दृष्टि से उस ओर देखते। नारी-पुरुषों का मिला-जुला दल था। एक संन्यासिनी भी थी—अनावृत्त मस्तक, रुक्ष केशभार को चूड़ा-रूप में बाँध रखा था। कौन है वह? कण्ठ में तुलसी की माला। कौन है वह?

पल भर में वे मानो पंगु हो गये!

लल्ला! संन्यासिनी बन गई है लल्ला! उसके कण्ठ में वही तुलसी की माला है! गैरिक-वसना, शीर्णा, यह तपस्विनी! आयत नयनों में वैराग्य छाया है। उस लल्ला और इस लल्ला में कितना अन्तर है! पर, फिर भी है तो लल्ला ही। लल्ला भी इन्हें देखकर स्तब्ध खड़ी रह गई है। स्थिर-निष्पलक दृष्टि से देख रही है।

सहयात्री कह रहे हैं, 'क्या हुआ, कल्याणी? आओ, चलो ना, कल्याणी! कल्याणी!'

पर लल्ला निरुत्तर है।

वे पुकारना चाह रहे हैं, पर कण्ठ मानो रुद्ध हो गया है।

हे वरदराज! हे रंगनाथ स्वामी! वाणी दो, मुझे वाणी दो।

लल्ला हिली है। स्थिर दृष्टि से उन्हीं की ओर देखती हुई, कम्पित पगों से बढ़ती आ रही है। निकट आकर नत-जानु हो बैठ गई। चारों ओर की जनता की ओर उसका जरा भी ध्यान नहीं है। अब वे वाष्परुद्ध कण्ठ से बोले, 'लल्ला!'

हाथ जोड़कर स्मित हास्य के साथ वह बोली, 'मैं कल्याणी हूँ! कन्या कुमारिका में देवी कुमारी माता के मन्दिर के बहिर्देश की परिमार्जना करती हूँ, और माता की दृष्टि के आगे तपस्या करती हूँ—वरदराज की कामना लेकर। लल्ला को मैं जानती थी। उस दिन वह आत्महत्या करने के लिये समुद्र में कूद पड़ी थी। कन्याकुमारी की संन्यासिनी माता ने उसे बचाया था—वे उस समय पार्थसारथी के दर्शन करके नौका में लौट रही थीं।'

उस भोर, जब उसकी ओर दृष्टिपात तक किये बिना, उसकी पुकार का उत्तर दिये बिना ही रंगनाथन चोरों की भाँति भाग आये थे, तब पहले तो लल्ला यही समझी कि प्रहरियों को आते देख उसकी रक्षा के लिये ही, उन लोगों को रोकने के लिये वे आगे बढ़ गये हैं। भयभीत होकर वह उठ बैठी थी, नारियल के एक निविड़, गहन कुञ्ज में छिप गई थी। पर कुछ समय में ही, भय ने स्थिर होकर जन्म दिया था संशय को।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

सागर-तट पर उसे हृदय से लगाकर रंगनाथन ने कहा था, 'भय कैसा ? तुम मेरी पत्नी हो। अपने घर में प्रवेश करोगी।'

तो ? तो फिर ? उसके गले में जो वैष्णव-कण्ठी झूल रही है, वह तो कल उन्होंने ही पहनाई थी—पत्नी रूप में उसका वरण करके। उसी कण्ठी को वह बार-बार स्पर्श कर रही थी। यह तो उसका स्वप्न मात्र नहीं है। भ्रम नहीं है। यह तो सत्य है। तो ? तो फिर ?

इसका उत्तर नारी को किसी और से पाने की आवश्यकता नहीं होती, स्वयं उसका अपना अन्तर ही दे देता है।

उफ् ! उसके सर्वाङ्ग में अभी भी रंगनाथन की देह की उष्णता व्याप्त है। अधरों पर उसे अभी भी उनके चुम्बनों के स्पर्श का अनुभव हो रहा है। कितना आवेग—कितनी गहराई थी उन चुम्बनों में ! उसने सोचा था, उसकी नारी-देह सार्थक हुई है, नारी-जीवन सार्थक हो गया है। वह धन्य है, धन्य है ! धन्य हो गई है वह !

उसने उनसे कहा था, 'आप ही मेरे वरदराज हैं।'

उन्होंने कहा था, 'तो फिर, तुम मेरी लक्ष्मी हो।'

सब मिथ्या है ! मिथ्या ! मिथ्या ! सत्य भी इस प्रकार मिथ्या हो जाता है ? हे वरदराज ! लक्ष्मा का जी चाह रहा था जोरों से रो पड़ने को, पर भयवश रो नहीं सकी। भय था—अपने नारीत्व की व्यर्थता की लज्जा के प्रकाश में आने का ; भय था—अपनी लांछना का ; भय था—रंगनाथन की लांछना का, समाज से उनकी विच्युति का। पर वह करे क्या ?

सूर्योदय होने ही वाला है। पूर्व दिशा में आकाश तथा समुद्र—दोनों में ही एक रक्तानुरंजित मण्डल क्रमशः विस्तीर्ण होता जा रहा है। यह मण्डल क्रमशः उज्ज्वल-से-उज्ज्वलतर होता जायेगा और फिर मानो समुद्र से ही छलाँग लगाकर सूर्यदेव आकाश में जा विराजेंगे। और वे देखेंगे उसका लज्जित, कलंकित, लांछित मुख। छिः-छिः-छिः !

उसकी मर्म-यन्त्रणा की, क्षोभ की सीमा न थी। इस यन्त्रणा से तो मृत्यु कहीं अधिक श्रेयस्कर लगी उसे। हाँ, वह मरेगी। हाँ !

उन्मत्त क्षोभ की यन्त्रणा में ऐसा भी समय आता है, जब मृत्यु का भय भी मनुष्य के लिये गौण हो जाता है। जीवन का, संसार का भय उससे कहीं अधिक भारी प्रतीत होता है। मृत्यु तब परमाश्रय-सी लगती है। पल भर में उसने निर्णय ले लिया। वह तट-रेखा पर आ खड़ी हुई। अभी फिर ज्वार आ रहा है। तट के ठीक आगे ही समुद्र बड़ा गहरा हो गया है। उच्छ्वसित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

तरंगें प्रबलता से आ-आकर टकरा रही हैं। कंचुकी खोलकर उसने उसी से अपने पाँव बाँध लिये। तुलसी की कण्ठी को गले में कसकर लपेट लिया—कहीं खुलकर गिर न जाये। यह परिचय उसका बना रहे। इसे वह उस पार तक संग ले जायेगी।

हाँ, समुद्र-तल में छिप जाना ही उचित होगा। पर वह है सागर-तट-वासी शबर-कन्या। तैरना उसे आता है। शैशव से ही समुद्र की गोद में क्रीड़ा करती आई है। उसी अभ्यासवश अब भी शायद समुद्र में कूदकर भी तैर निकले। इसीलिये उसने अपने पाँव बाँध लिये थे। फिर खिसकती हुई, तट पर आकर जल में कूद पड़ी थी।

एक बार नीचे भी पहुँच गई थी, पर हाथों ने अभ्यासवश जल काटकर वापस ऊपर पहुँचा दिया था। फिर पाँव बँधे होने के कारण डूबी, फिर ऊपर आ गई। इसी प्रकार डूबते-उतराते कब चेतना खो बैठी—पता नहीं।

जब संज्ञा लौटी, तो अपने-आपको एक बड़ी-सी नौका में पाया। सिरहाने बैठी थीं एक गैरिकवस्त्र-धारिणी संन्यासिनी।

'अब स्वस्थ हो ?' संन्यासिनी ने पूछा था।

यह निर्वाक् उनके शान्त-प्रसन्न मुख की ओर देखती रह गई थी। कुछ ही पलों में पहचान भी लिया था उन्हें। मद्रास में पार्थसारथी के मन्दिर में देखा था। दरिद्रों को दान दिया था उन्होंने—साधारण मुष्टि-भिक्षा नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को एक दिन के आहार के उपयुक्त चावल। उसके बाद भी देखा था—रंगनाथन के गायन-समारोह में। नेत्र मूँदकर गायन सुन रही थीं। इसने सुना था, कन्याकुमारी की संन्यासिनी हैं ये। महाप्रभु के दर्शन करने जगन्नाथधाम गई थीं, वहीं से लौट रही हैं। यहाँ मद्रास में आहार्य-जल लेने रुकी थीं, सो इसी बहाने देवताओं के दर्शन भी कर लिये।

उन्होंने फिर पूछा, 'तुम्हारे पाँव इस प्रकार बँधे क्यों हैं ? स्वयं तुमने बाँधे थे ?'

उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर नेत्र मूँद लिये थे। पलकों की कोरों से जल की धार बह चली। उसके मुख से शब्द नहीं निकल सके। सिर हिलाकर जताया—हाँ।

'आत्महत्या करना चाहती थी ?'

वह चुपचाप नयन मूँदे पड़ी रही। केवल अश्रु ढुलकते जा रहे थे।

'क्यों ? मरना क्यों चाहती हो ?'

वह फफक-फफककर रो उठी थी। कुछ कह नहीं सकी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

'अच्छा, रहने दो।' उन्होंने इस विषय को बन्द कर दिया। परिचय पूछा। उसने बताया—वह अनाथ है। माता-पिता, भाई-बहन कोई भी नहीं है।

'पति ?'

वह फिर रो पड़ी।

उन्होंने फिर कोई प्रश्न नहीं पूछा।

फिर कुछ स्वस्थ होने पर धीरे-धीरे स्वयं उसने ही माताजी को सब कुछ बता दिया था। केवल नाम नहीं बताया रंगनाथन का। बताया—एक ब्राह्मण ने सागर-तट पर सागर की साक्षी में उससे विवाह किया था। यह तुलसी की कण्ठी उसका प्रमाण है। किन्तु…

आगे कुछ नहीं कह सकी लछ्ला।

माताजी ने पूछा था, 'फिर ?'

वह कुछ टालती-सी बोली थी, 'फिर वे पता नहीं कहाँ चले गये !'

एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर फिर बोली, 'उनका कोई सन्धान नहीं जानती। कौन जाने, उनके समाज—'

माताजी ने उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा था, 'समाज निष्ठुर है। शास्त्र भी निष्ठुर होते हैं। मनुष्य के हृदय को ये कुचल डालते हैं। इनका षडयन्त्र बड़ा कुटिल होता है। ऋषि दुर्वासा ने षडयन्त्र रचकर इसी प्रकार एक कुमारी की तपस्या को व्यर्थ कर दिया था, कल्याणी।'

लछ्ला ने उन्हें अपना नाम कल्याणी ही बताया था।

माताजी ने आगे कहा, 'वे आज भी कुमारी अवस्था में ही अपने स्वामी को पाने के लिये तपस्या किये जा रही हैं। और वे हैं कौन, जानती हो ? वे हैं आद्याशक्ति। स्वयं पार्वती। कन्याकुमारी तीर्थ का नाम सुना है ?'

गर्दन हिलाकर जताया लछ्ला ने—हाँ, सुना है।

'वहीं रहती हूँ मैं, उनकी पूजा करती हूँ। मैं भी कुमारी हूँ। बाणासुर का वध करने के लिये देवी पार्वती कुमारी कन्या के रूप में अवतीर्ण हुई थीं। असुर का वध करके, उन्होंने पशुपतिनाथ महेश्वर को पति-रूप में पाने की कामना से तपस्या आरम्भ की। तपस्या से तुष्ट देवताओं ने आकर विवाह-लग्न भी निश्चित कर दिया। उस दिन, वधू-वेश में सज्जिता देवी, हाथों में वरमाला लिये, अलंकृत मण्डप के तले आ बैठीं।

'इधर देवताओं ने भी महेश्वर को लेकर मर्त्य-लोक की यात्रा आरम्भ की। पर महर्षि दुर्वासा इस विवाह के पक्ष में नहीं थे। कारण यही था कि हिमाचल-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

दुहिता, उत्तरावर्त्त की गौरी तप्तकांचनवर्णा थीं, और ये नीलगिरि-दुहिता थीं, श्यामांगिनी। दुर्वासा ने छल द्वारा विवाह-लग्न भ्रष्ट कर दिया। विवाह नहीं हो सका। शिव आज भी कन्याकुमारी के मन्दिर से कुछ दूरी पर प्रतीक्षा कर रहे हैं, पर वह लग्न आज भी नहीं लौटा है। अनन्त काल से कन्याकुमारी हाथों में माला लिये तपस्या करती आ रही हैं।

'मैं उन्हीं की सेविका हूँ। एक छोटा-सा आश्रम है। मेरे काम्य आज इस पृथ्वी पर नहीं हैं, वे महेश्वर में लीन हो गये हैं। उस लोक में उनसे मिलन होगा। चलो, तुम मेरे संग चलो। वहीं रहना। कठिन न लगे, तो वहीं तपस्या करना। चलोगी ?···और यदि लौटना चाहोगी, तो मद्रास-गामी नौका में वापस भेज दूँगी।'

लल्ला का हृदय भर आया था। उसने तपस्या को ही चुन लिया था।

अब वह लल्ला नहीं है। वह समुद्र-जल में निश्चिह्न हो गई है। अब जो है—वह है तपस्विनी कल्याणी !

वह शबरी है। दूर से ही उसने विवाह के सभी अलंकारों से भूषिता, अपूर्व लावण्यमयी कन्याकुमारी के दर्शन किये हैं। दर्शन करके मुग्ध हो गई है। सारा सन्ताप मिट गया है उसका।

वह माताजी के आश्रम में रहती है। आश्रम का कार्य करती है—सेवा-कार्य, उद्यान-कर्म आदि।

माताजी कहती हैं, 'अब तो तुम शबरी नहीं हो कल्याणी, ब्राह्मणी हो। तुम्हारे ब्राह्मण प्रियतम की माला है तुम्हारे कण्ठ में ; आचार-आचरण भी पवित्र है तुम्हारा। तो फिर, इतनी दूर क्यों रहती हो ?'

लल्ला हँस देती है। सविनय कहती है, 'माताजी, आपकी करुणा ही मेरी सम्पदा है, मेरा ब्राह्मणत्व है। और कोई प्रलोभन मुझे नहीं है। मैं मनुष्य को नहीं चाहती माताजी, भगवान को चाहती हूँ।'

माताजी ने कहा था, 'तुम तीर्थ-दर्शन करो, कल्याणी। तुम्हें भगवान की दया मिलेगी। परिपूर्ण हो जाओगी तुम।'

उसी यात्रा के प्रथम चरण में वह पुरी आई है, नीलमाधव के दर्शन करने। वरदराज और नीलमाधव में कोई अन्तर नहीं है।

दोल-यात्रा के अवसर पर नीलमाधव का दर्शन करके, वसन्तोत्सव के अवसर पर उनका अबीर-कुंकुम का प्रसाद पाकर वह धन्य हुई है। जीवन में मानव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

रंगनाथन द्वारा रिक्त स्थान को उन्होंने पूर्ण किया है। आज वह आई है, भुवनेश्वर के दर्शनों को।

यहाँ दूर से ही, बिन्दु-सरोवर के तट पर उस पुष्पित माधवी लता के नीचे रंगनाथन को बैठे देखकर एक बार तो अवश, पंगु-सी हो उठी थी, फिर आत्म-संवरण करके धीरे-धीरे बढ़कर निकट जा पहुँची थी। आज उसकी तपस्या पूर्ण होगी। रंगनाथन के सम्मुख आज अपने हृदय के द्वार बन्द करके वह विदा लेगी। कहेगी, 'तुम्हें नीलमाधव के रूप में हृदय में प्रतिष्ठित किया है। अब और स्थान नहीं है।'

यही कहने के लिये वह नत-जानु होकर बैठी थी। प्रणाम करके बोली, 'प्रभु, संन्यासिनी ने अचेत लल्ला को समुद्र से निकाल लिया था, पर वह बच नहीं पाई। मर गई है। मैं लल्ला नहीं, कल्याणी हूँ। पर लल्ला मरते समय यह मुझे सँभला गई थी। आप लल्ला के प्रियतम हैं। यह आपको ही सौंप देने को कह गई है।'

कहकर उसने गले की कण्ठी उतारकर उनके चरणों में रख दी, और प्रणाम करके उठ खड़ी हुई।

रंगनाथन ने रुद्ध कण्ठ से पुकारा, 'लल्ला!'

'मैं कल्याणी हूँ। अब चलती हूँ, प्रभु।'

लल्ला चली जा रही है। कण्ठी यहीं पड़ी है। वे पाषाण-मूर्त्ति-से बैठे रहे।

अपने-आप ही नेत्र मुँद गये। भीतर-ही-भीतर जल छलछला रहा है। आर्त्त कण्ठ से पुकार उठे, 'कल्याणी!'

इस आह्वान पर संन्यासिनी रुके बिना न रह सकी।

रंगनाथन के नेत्रों से अश्रु-धारा बह रही थी। आर्त्त स्वर में ही उन्होंने प्रश्न किया, 'पृथ्वी पर क्या सब कुछ मिथ्या है?'

संन्यासिनी सहसा कोई उत्तर नहीं दे सकी। कुछ पल मानो उत्तर की आशा में ही आकाश की ओर देखती रही, फिर बोली, 'नहीं प्रभु, सब कुछ सत्य है। शाखा-वृन्तों पर फूटती कलियाँ भी सत्य हैं—विकसित पुष्प भी, और विगलित पुष्प भी। सब कुछ सत्य है। अब मैं चलूँ।'

नयन मूँदे ही बैठे रहे रंगनाथन। नेत्र खोलने का साहस नहीं हुआ। केवल अँगुलियाँ थीं, कि वीणा के तारों को छेड़े जा रही थीं। पद-ध्वनि क्या क्रमशः लुप्त होती जा रही है?

अचानक ही सुध आई—यह क्या? यह क्या बजा रहे हैं वे?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

एक क्षीण-सी हास्य-रेखा उनके अधरों पर खिल उठी।

यह तो वसन्त राग है!

झूठी है वह बात। जीवन में वसन्त राग केवल एक बार आता है। फिर वह सदा के लिये मिथ्या हो जाता है। केवल स्मृति रह जाती है। लल्ला मिथ्या हो गई है—सत्य रह गई है कल्याणी। ना, कल्याणी भी नहीं। सत्य है—एक तपस्विनी। उसे देखकर स्मृति-विभ्रम से ही वसन्त राग छेड़ दिया था अँगुलियों ने। बजने दो। नेत्र मूँदे ही बजाने लगे।

अचानक स्वर सुनाई दिया—'प्रभु!'

नेत्र खोले रंगनाथन ने। देखा, लल्ला लौटकर सामने खड़ी है। उसकी ओर देखा। वीणा पर वसन्त राग अविरत् बज रहा था। रोका नहीं जा सकता। लल्ला बोली, 'यह माला—यह कण्ठी मुझे लौटा दीजिये, मृत लल्ला की आत्मा इसे वापस चाहती है। इसी में तो वह बँधी है, प्रभु।'

कण्ठी उठाकर वह लौट गई। वीणा के तारों पर वसन्त राग अकस्मात् ही मानो और अधिक जीवन्त हो उठा।

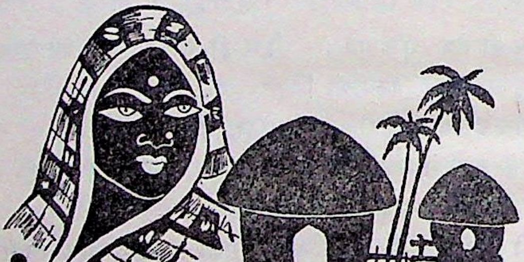

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri

ताराशंकर वन्द्योपाध्याय

का मर्मस्पर्शी उपन्यास

वसन्त राग

०

उफ्! उसके सर्वाङ्ग में अभी भी रंगनाथन की देह की उष्णता व्याप्त है। अधरों पर उसे अभी भी उनके चुम्बनों के स्पर्श का अनुभव हो रहा है। कितना आवेग, कितनी गहराई थी उन चुम्बनों में! उसने सोचा था, उसकी नारी-देह सार्थक हुई है, नारी-जीवन सार्थक हो गया है।

उसने उनसे कहा था, 'आप ही मेरे वरदराज हैं।'

उन्होंने कहा था, 'तो फिर, तुम मेरी लक्ष्मी हो।'

सब मिथ्या है! मिथ्या! मिथ्या! सत्य भी इस प्रकार मिथ्या हो जाता है?

०

बंगला के सभी जीवित विशिष्ट कथाकारों में शीर्षस्थ हैं ताराशंकर वन्द्योपाध्याय, और 'वसन्त राग' है उनकी सभी शीर्षस्थ कथा-कृतियों में विशिष्ट कृति!

मूल्य ४ रुपये

राजपाल एण्ड सन्ज

कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE